गुरु विरजानन्द दण्डी
जीवन एवं दर्शन
डॉ. राम प्रकाश

डॉक्टर राम प्रकाश जाने माने शिक्षाशास्त्री, वैज्ञानिक, समाजसेवी, राजनीतिज्ञ, लेखक एवं वक्ता हैं। कई देशों में अनुसंधान, अध्ययन, प्रचार हेतु गए हैं।

उनकी लिखी यज्ञ-विमर्श, वेद-विमर्श, तथा पण्डित गुरूदत्त विद्यार्थी की जीवनी को पाठकों ने बहुत सराहा है।

लाला लाजपत राय द्वारा 1891 में अंग्रेज़ी में लिखी पण्डित गुरूदत्त की जीवनी तथा पण्डित जी के लेखों के सम्पादन में उनकी योग्यता स्पष्ट झलकती है।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में दयानन्द चेयर की स्थापना, विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के भवन का नाम पण्डित गुरूदत्त विद्यार्थी हॉल रखवाना उनकी विशेष उपलब्धियाँ हैं।

प्रस्तुत जीवनी में दण्डी जी के व्यक्तित्व के कई पहलू पहली बार उभरे हैं।

ओ३म्

गुरु विरजानन्द दण्डी

जीवन एवं दर्शन

डॉ. रामप्रकाश

लेखक : **डॉ. रामप्रकाश**
एम.एस-सी. (आनर्ज़), पी-एच. डी., डी.एस-सी.

प्रोफेसर (सेवा-निवृत्त), रसायन विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
1634-35, सेक्टर-13,
अर्बन एस्टेट, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

प्रथम संस्करण : मार्च 2002 (5000 प्रतियाँ)
संशोधित संस्करण : जून 2006 (2000 प्रतियाँ)

दयानन्दाब्द : 182
आर्य संवत्सर : 1,96,08,53,107

आवरण सज्जा : सिद्धार्थप्रताप सिंह
शब्द संयोजन : धर्मसिंह

प्रकाशक : **डॉ. राजेन्द्र विद्यालंकार,**
सत्यार्थ प्रकाशन,
1425/13, अर्बन एस्टेट, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
दूरभाष : (01744)-225571, 221571

मुद्रक :- राधा प्रेस, कैलाश नगर, दिल्ली-३१

अनुक्रम

14 सितम्बर, 1868 को गुरु विरजानन्द दण्डी के देहावसान के पश्चात् उनका चित्र लिया गया था जो अब अनुपलब्ध है। तदनुसार पण्डित युगलकिशोर ने दण्डीजी का प्रचलित चित्र किसी चित्रकार से बनवाया था। इसमें सिर तथा धड़ का चित्र वास्तविक है तथा नीचे का भाग चित्रकार का बनाया हुआ है। आवरण पृष्ठ का रेखाचित्र उसी पर आधारित है।

प्रस्तावना

आर्यजाति ने विश्व को एक उदात्त दर्शन एवं आदर्श संस्कृति प्रदान की थी। इसीलिए यह पुण्य भारत भूमि विश्वगुरु कहलायी थी। परन्तु जब इसका पतन हुआ तो उसकी भी कोई सीमा न रही। कारण क्या था ? इस देश में महाभारत युद्ध के पश्चात् अनेक सुधारक एवं आचार्य हुए। फिर भी रोग का निदान न हुआ। भला, ऐसा क्यों ?

आर्यजाति शास्त्रानुवर्त्ती है। शास्त्र-विश्वास इसकी रग-रग में व्याप्त है। सत्शास्त्र ही इसकी सम्पत्ति हैं। अत: शास्त्र को आधार बनाए बिना किसी आचार्य के लिए इस देश में कोई धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक सुधार करना तो दूर रहा, अपनी बात कहने में समर्थ हो पाना भी सम्भव नहीं था। महाभारत के पश्चात् अनार्ष पुस्तकों के प्रचार ने आर्यजाति को पथभ्रष्ट कर दिया। जन सामान्य तो क्या, विभिन्न आचार्य एवं समाज सुधारक भी आर्ष-अनार्ष का भेद न समझ पाए। परिणामस्वरूप सुधारक आए और चले गए परन्तु प्रभावहीन रहे। बहुत समय पश्चात् प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने हिन्दू समाज में व्याप्त रोग के इस कारण को समझा था। यदि आर्यजाति को अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है, यदि अपनी पहचान को बचाना है, तो विरजानन्द दण्डी तथा उनके शिष्य दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। **नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।**

जिस दण्डीजी ने इस जाति को बचाने के लिए सतत साधना की और दयानन्द जैसा रत्न दिया, इसने उसी को भुला दिया। दण्डीजी अधिक समय मथुरा, सोरों, अलवर आदि कुछ ही स्थानों पर रहे थे। वहाँ उनके अनेक शिष्य थे। यदि तब उनके जीवन सम्बन्धी जानकारी एकत्रित करने का प्रयास किया जाता तो यह कार्य अत्यधिक सरल था। परन्तु ऋषि दयानन्द के जीवन-काल में किसी ने उन्हीं का विस्तृत विवरण एकत्रित नहीं किया, तो दण्डीजी विषयक खोज करना किसे सूझता ? यह तो स्वार्थ भरा निष्ठुर संसार है। बदली कैसे बनी ? बादल कहाँ से आया ? जल बरसाने के बाद उस पर क्या बीती ? किसी को इससे क्या प्रयोजन ? केवल उसकी अमृतमयी बूँदों से ही मतलब है। यही महापुरुषों के साथ होता है। हम भूल जाते हैं कि उन्हें समझे बिना उस समय का इतिहास समझा नहीं जा सकता।

इतिहास समझे बिना वर्तमान की रक्षा और भविष्य का निर्माण नहीं हो सकता।

दण्डीजी के देहावसान के लगभग पचास वर्ष बाद तक उनका कोई स्वतन्त्र जीवन-चरित लिखा नहीं गया। सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 4 अगस्त, 1875 के अपने पन्द्रहवें पुणे प्रवचन में कुछ वाक्यों में उनकी श्रद्धापूर्वक चर्चा की थी। उन्नीसवीं सदी में ऋषि दयानन्द की जीवनी लिखने वाले गोपालराव हरि, जगन्नाथ भारतीय तथा मांगीलाल कविकिंकर ने उसी आधार पर चन्द वाक्यों में दण्डीजी का स्मरण किया था। नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के संक्षिप्त बंगला लेख में दण्डीजी का नाम मात्र भी उल्लेख नहीं है। हाँ, ऋषि दयानन्द सरस्वती की अंग्रेज़ी में सर्वप्रथम लघु जीवनी के लेखक दीनानाथ गांगुली ने एक पृष्ठ में स्वामी विरजानन्द का आर्ष-अनार्ष ग्रन्थ विषयक चिन्तन प्रस्तुत किया था।

पण्डित लेखराम आर्य मुसाफ़िर की महत्त्वपूर्ण खोज के आधार पर ऋषि दयानन्द का बृहत् जीवन-चरित पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा, लाहौर ने 1897 ई. में उर्दू में प्रकाशित किया था। तब पहली बार आर्य जगत् को गुरु विरजानन्द के विषय में कुछ जानकारी उपलब्ध हुई थी, वह भी मात्र दस-पन्द्रह पृष्ठों में। पण्डित लेखराम की खोज के आधार पर मेहता राधाकिशन, लक्ष्मण आर्योपदेशक, लाला लाजपतराय, रामविलास शारदा, बावा छज्जूसिंह आदि ने ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित लिखे थे, उनमें स्वामी विरजानन्द का जो संक्षिप्त जीवन-परिचय दिया गया है, उसका आधार मात्र यही कुछ पृष्ठ थे। कुछ भी नई जानकारी इन पुस्तकों में नहीं है। भाव तो एक जैसे हैं ही, प्रायः शब्द भी समान हैं। पण्डित लेखराम संग्रहीत विवरण को पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने एक बार पृथक् पुस्तिका के रूप में तथा इसका हिन्दी अनुवाद प्रयाग निवासी मुन्शी जगदम्बाप्रसाद ने 1904 ई. में प्रकाशित किया था। उन्हीं दिनों सर्बदयाल तथा उर्दू मिलाप लाहौर के तत्कालीन सम्पादक रामलाल ने उर्दू में दण्डीजी की संक्षिप्त जीवनियाँ लिखी थीं। उपलब्ध सामग्री के आधार पर सत्यबन्धु दास, स्वामी सत्यानन्द तथा हरविलास शारदा ने सुललित भाषा में ऋषि दयानन्द के जीवन-चरितों में दण्डीजी पर एक-एक अध्याय लिखा था।

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा 1894 ई. में बंगला में लिखे गए स्वामी दयानन्द के जीवन-चरित का हिन्दी अनुवाद पण्डित घासीराम ने जुलाई 1912 में भास्कर प्रेस, मेरठ से प्रकाशित किया था। इस जीवन-चरित में देवेन्द्र बाबू ने ऋषि दयानन्द को पूरी तरह समझने के लिए स्वामी विरजानन्द दण्डी का खोजपूर्ण

जीवन-चरित लिखने की आवश्यकता पर बल दिया था। अभी उन्होंने ऋषि दयानन्द के बृहत् जीवन-चरित के चार अध्याय ही लिखे थे कि वे 10 जनवरी, 1917 को पक्षाघात से चल बसे परन्तु इस जीवनी में स्वामी विरजानन्द का संक्षिप्त विवरण स्वयं उनका लिखा हुआ है। सर्वप्रथम उन्होंने ही बंगला में दण्डीजी की स्वतन्त्र खोजपूर्ण जीवनी लिखी थी। इस अप्रकाशित पुस्तक का घासीराम कृत हिन्दी रूपान्तर संयुक्त प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा, लखनऊ ने दिसम्बर 1919 में प्रकाशित किया था। इसके अतिरिक्त तब तक किसी भी भाषा में दण्डीजी के जीवन-चरित लिखने का कोई स्वतन्त्र प्रयास नहीं हुआ था। आर्यजगत् इस महान् कार्य के लिए बंगाली बाबू तथा पण्डित घासीराम का ऋणी है।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ तथा पण्डित भीमसेन शास्त्री ने दण्डीजी के जीवन-चरित क्रमशः 1954 तथा 1959 ई. में लिखे थे। भीमसेन शास्त्री को पण्डित मुकुन्ददेव लिखित दण्डीजी की जो अप्रकाशित जीवनी हाथ लगी, उससे काफी नई सामग्री उपलब्ध हुई। अच्छा होता यदि तब पण्डित मुकुन्ददेव लिखित जीवन-चरित पुस्तकाकार अथवा किसी पत्रिका में क्रमवार छपवा दिया जाता। प्रयत्न करने पर भी अब यह अमूल्य निधि उपलब्ध न हो सकी।

जीवनी-लेखन अति कठिन कार्य है। रचनाकार पहले कथानायक में अपनी सत्ता विलीन करता है, उसके साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करता है, उसे समझता है। फिर चरितनायक से पूर्णतया पृथक् होता है, वैराग्य प्राप्त करता है, अन्यथा ऐतिहासिक तथ्यों तथा उनके विश्लेषण के साथ न्याय नहीं हो पाता। रचना से रचनाकार स्वयं को जितना पृथक् कर ले, उसकी रचना उतनी ही महान्, शाश्वत एवं अमर होती है। स्वयं को चरितनायक से पृथक् करना इतना कठिन है कि देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय जैसी दिव्यात्मा भी इसमें पूर्ण सफल नहीं हुई, अन्यथा वे पण्डित लेखराम की कहीं-कहीं इतनी कटु आलोचना न करते। सद्धर्मप्रचारकों को विपरीत परिस्थितियों, अधर्म, मूढ़ता एवं कुटिलता से अहर्निश जूझना पड़ता है, जिससे कई बार उनके स्वभाव में विचित्र दृढ़ता, कटुता एवं उग्रता आ जाती है, जिसे हठ और क्रोध भी कह सकते हैं। यद्यपि लेखक की अपने चरितनायक के प्रति श्रद्धा स्वाभाविक है परन्तु व्यक्तित्व को समझते समय इस वास्तविकता को स्वीकार करना ही चाहिए।

जीवन-चरित लेखकों ने दण्डीजी तथा ऋषि दयानन्द के कुछ वाक्य भावातिरेक अथवा श्रद्धातिरेक होकर लिखे हैं। वे हमें कहीं-कहीं वास्तविकता से

दूर ले जाते हैं। इसीलिए इस पुस्तक में विभिन्न कथनों को उद्धरण-चिह्नों में लिखते हुए मुझे संकोच रहा है। वैसे संहिताओं, स्मृतियों, आर्षग्रन्थों, रामायण, महाभारत आदि में कहीं भी उद्धरण-चिह्न नहीं हैं। सत्य तो असीम है, उसे उद्धरण-चिह्नों की क्या आवश्यकता? पण्डित लेखराम संग्रहीत जीवन-चरित में वाक्य बहुत कुछ स्वाभाविक हैं। दण्डीजी के वास्तविक शब्द तो प्रभु जाने पर कम-से-कम उनका भाव तो यही रहा होगा। इसीलिए आवश्यकतानुसार पण्डित लेखराम संग्रहीत जीवन-चरित का सहारा लिया गया है।

जहाँ स्वामी वेदानन्द ने संवाद-रचना में कल्पना का सहारा लिया, वहाँ भीमसेन शास्त्री ने कुछ तिथियाँ निर्धारित करने में कल्पना के विशाल आकाश में खूब छलांगें भरीं। हुआ होगा, किया होगा, गए होंगे ... आदि से आरम्भ के पृष्ठ भरे पड़े हैं। दण्डी जी विषयक कई बातें केवल कल्पना के आधार पर लिख दी गई हैं। कल्पना का इस प्रकार इतना सहारा लेना इतिहासकार को उसके अधिकारक्षेत्र से बाहर ले जाता है। कहीं-कहीं तिथियों तथा तथ्यों के साथ उनका यह मल्लयुद्ध दुविधा में डाल देता है। दण्डीजी का जन्म-वर्ष तो ऋषि दयानन्द के संकेत से तय हो गया था। कृष्ण शास्त्री से प्रस्तावित शास्त्रार्थ का वर्ष, दयानन्द के मथुरा गमन और दण्डीजी के देहावसान की तिथियों के अतिरिक्त शेष सभी तिथियाँ विभिन्न लेखकों द्वारा अनुमानित रही हैं। उनके लिए कोई पुष्ट आधार नहीं है। दण्डीजी काशी, गया, कोलकाता, सोरों आदि स्थानों पर कितने समय ठहरे — इस विषय में आज भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

यूँ तो पण्डित लेखराम ने आर्यसमाज मन्दिर जालन्धर नगर (पंजाब) में 18 अप्रैल, 1893 को भाषण देते हुए पहली बार बतलाया था कि दण्डी गुरु विरजानन्द सरस्वती का जन्मस्थान यहीं करतारपुर (जालन्धर) के निकट एक ग्राम (गंगापुर) है, तो भी दयानन्द जन्मशताब्दी मथुरा के अवसर पर फरवरी 1925 ई. में दण्डीजी के जन्मस्थान का पता लगाने पर विचार हुआ था। फिर आर्यसमाज करतारपुर (जालन्धर) के वार्षिकोत्सव पर सितम्बर 1929 में एतदर्थ एक समिति गठित की गई थी, जिसके एक सदस्य महाशय रघुनन्दनलाल 1986 ई. तक जीवित थे। आश्चर्य है कि किसी भी जीवनी-लेखक ने गत सत्तर वर्षों में उस समिति की चर्चा तक नहीं की। लगता है 1930 ई. के बाद कोई जीवनी लेखक गंगापुर तो क्या करतारपुर भी नहीं गया अन्यथा महाशय रघुनन्दनलाल से भेंट स्वाभाविक थी। इस पुस्तक में न केवल पहली बार उन तथ्यों का लाभ

उठाया गया है, अपितु मेरे मित्र प्रोफेसर त्रिलोचनसिंह बिन्दरा तथा मैंने मिलकर भरसक प्रयत्न कर गंगापुर की स्थिति निश्चित की है। यद्यपि दण्डीजी के विचारों को समझने के लिए सार्वभौम-सभा-विवरणपत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है पर पण्डित भीमसेन ने तो इसे भी उद्धृत नहीं किया। यही स्थिति दण्डीजी के राजा सवाई रामसिंह को लिखे पत्र की है, जिसे इस जीवन-चरित में पहली बार छापा जा रहा है। वेदवाणी में मार्च 1960 में छपे पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के लेख का भी लाभ उठाया गया है। इस पुस्तक में दण्डीजी के जन्मस्थान, वंशावली, अलवर गमन, शिष्य मण्डली, लेखों एवं पुस्तकों, मान्यताओं तथा चिन्तन सम्बन्धी पर्याप्त नई सामग्री है। इस प्रकार पण्डित लेखराम, देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, स्वामी वेदानन्द तथा भीमसेन शास्त्री द्वारा लिखित जीवन-चरितों में जो अधूरापन है, उसे दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में संग्रहीत नई सामग्री से ऋषि दयानन्द सरस्वती के 1860-68 ई. तक के चिन्तन एवं विचारों की गतिमयता को समझने में सहायता मिलेगी। 'प्रतीक्षारत' अध्याय के कुछ उल्लेख तथा टिप्पणियाँ इसका प्रमाण हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि इतिहास में प्रायः नामों और तिथियों के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं होता परन्तु मानवता के इतिहास में नाम तथा तिथियाँ भले ही सन्देहास्पद हों, बाकी प्रायः सत्य होता है। वैसे भी जीवन-चरित केवल कुछ घटनाओं का क्रमवार वर्णन ही नहीं है अपितु चरितनायक के विचारों एवं चेतना की प्रगति की गाथा भी है। अतः परिस्थितियों एवं घटनाओं का दण्डी स्वामी विरजानन्द, तिथियों और सम्वतों का दण्डी स्वामी आज भले ही विद्यमान न हो परन्तु विचार और चेतना का दण्डी स्वामी, चिन्तन और अनुभूतियों का दण्डी स्वामी, व्याकरण का सूर्य दण्डी स्वामी, दयानन्द का गुरु दण्डी स्वामी ... तो सदैव जीवित रहेगा। उनके जीवन सम्बन्धी अधिक जानकारी बीते समय के धुँधलके में खो गई है। कुछ घटनाओं ने कहानियों अथवा किम्वदन्तियों का आवरण ओढ़ लिया है परन्तु उनके विचारों एवं कर्तृत्व से उनका अस्तित्व अभी भी पहचाना जा सकता है। दयानन्द के एक-एक वाक्य में उनका अस्तित्व है। दयानन्द की प्रत्येक विजय उनके अमरत्व का प्रमाण है। अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य के रूप में वे विद्यमान हैं। समय के साथ उनके प्रति विरोध के स्वर गूँगे हो गए हैं। लक्ष्मी की हुँकार तथा भव्य मन्दिरों के घण्टों का निनाद आसमान के सन्नाटे में खो गए हैं पर विरजानन्द ज़िन्दा है, ज़िन्दा रहेगा। न वह विरोधियों से मरा है, न समय में उसे नष्ट करने का सामर्थ्य है।

जीव की अल्पज्ञता तथा मुद्रण की असावधानियों आदि के कारण पुस्तकों में तथ्यों एवं तिथियों सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह जाना स्वाभाविक है। इससे कई बार बड़ी हास्यास्पद स्थिति बन जाती है, उदाहरणार्थ एक प्रतिष्ठित संस्था द्वारा प्रकाशित लाला लाजपतराय की पुस्तक 'दि आर्यसमाज' के आवरण पृष्ठ पर लालाजी का डी. ए. वी. कॉलेज, लाहौर से बी.ए. पास करना लिखा है। लालाजी न तो डी. ए. वी. कॉलेज, लाहौर के छात्र थे, न ही बी.ए.। इसी प्रकार रामविलास शारदा लिखित 'आर्यधर्मेन्द्र जीवन' के प्रथम संस्करण में परिशिष्ट में स्वामी विरजानन्द की संक्षिप्त जीवनी छपी थी। पुस्तक में यथास्थान इस आशय की टिप्पणी दी गई थी। बाद के संस्करणों में दण्डीजी की लघुजीवनी तो नदारद है पर पाद टिप्पणी जीवित है। पुस्तकों में तिथियों सम्बन्धी अशुद्धियों की तो भरमार है। अतः इस पुस्तक में संकलित सामग्री का न केवल यथा सम्भव मूल स्रोतों से मिलान किया गया है, अपितु विक्रमी तिथियों की पड़ताल के लिए कम्प्यूटर पर कुण्डली सॉफ्टवेयर का प्रयोग किया है।

यह पुस्तक लिखते समय मैं डॉक्टर भवानीलाल भारतीय (जोधपुर), श्रीमती स्नेह महाजन (निदेशक, डी. ए. वी. पब्लिक स्कूल्ज़, नई दिल्ली तथा पूर्व प्राचार्या, चण्डीगढ़), डॉक्टर रणवीरसिंह (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र) तथा प्रोफेसर त्रिलोचनसिंह बिन्दरा से निरन्तर विचार-विमर्श करता रहा हूँ। डॉक्टर भारतीय ने काफी सामग्री उपलब्ध करवाई है। समय-समय पर डॉक्टर सुरेन्द्र मेहता, डॉक्टर विक्रम विवेकी (दोनों पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़), डॉ. सुरेन्द्रकुमार (महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक), आचार्य रामकिशोर शर्मा (सोरों), आचार्य विजयपाल (रेवली, सोनीपत), पण्डित यशपाल आर्यबन्धु (मुरादाबाद), आचार्य स्वदेश, पण्डित ओ३म्प्रकाश त्यागी (दोनों मथुरा) और पण्डित निरंजनदेव आर्योपदेशक का सहयोग मिलता रहा है। करतारपुर, गंगापुर, हरिद्वार, वृन्दावन, मथुरा, आगरा आदि स्थानों पर मेरे भ्रमण के समय अनेक सज्जनों का सहयोग मिला है। मैं सभी का आभारी हूँ। दण्डीजी का चित्र चेन्नई (तमिलनाडु) के श्री बी. के. बारसकर की कलाकृति है। जिन लेखकों की पुस्तकों से लाभान्वित हुआ हूँ उनकी सूची आभार सहित परिशिष्ट 5 में दी है। पुस्तकों के उन्हीं संस्करणों की पृष्ठ संख्या सन्दर्भ एवं टिप्पणियों में उल्लिखित है। युवा विद्वान् प्रिय डॉक्टर राजेन्द्र विद्यालंकार ने मुझे इसके प्रकाशन की चिन्ता से मुक्त किया। प्रभु उस पर मंगल वर्षा करें।

आलोक-पुरुष दण्डी स्वामी विरजानन्द को पिछले दो सौ वर्षों में अनेक धुरन्धर विद्वान् तथा मनीषी भली प्रकार न समझ सके, उनके विषय में मुझ सदृश सामान्य व्यक्ति ने कुछ लिखने का साहस क्यों किया? प्रश्न स्वाभाविक है। न इतिहास मेरा विषय है, न साहित्य। न संस्कृत व्याकरण, न दर्शन। सत्य यह है कि मैंने बाल्यावस्था में अपने पिताश्री प्रभुदयाल, भ्राताश्री बीरुराम आर्य तथा आर्य विद्वानों से ऋषि दयानन्द सरस्वती की चर्चा सुनी थी। इससे मुझे ऋषिवर तक पहुँचने का प्रयत्न करने की प्रेरणा मिली। तब मैंने उनके परम शिष्य पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का सहारा पकड़ा। वे मुझे ऋषि-कुटिया के निकट तो ले गए परन्तु अनन्त पथ के उस राही के पास समयाभाव था। उसे यहाँ से जाने की बहुत जल्दी थी। इस कारण मैं उनके माध्यम से ऋषि के निकट से दर्शन करने से वंचित रह गया। सोचा, अब क्या करूँ? कैसे निकट जाऊँ? दर्शनलाभ करने का अधिकारी कैसे बनूँ? पूछ लिया तो क्या परिचय दूँगा ? तब ध्यान आया कि दयानन्द सरस्वती को समझने के लिए उनके गुरु की शरण में जाना चाहिए। पहले उनका विराट् स्वरूप देख लूँ , फिर उनके माध्यम से दयानन्द के दर्शन करूँ। पूछते-पूछते मैं दण्डीजी तक पहुँचा। मुझे लगा जैसे वे कह रहे हों — वत्स! तुम बहुत देर से आए हो। अब तो तुम्हारा जीवन ही बीत गया। पहले आते तो कुछ पा लेते। चिन्तित स्वर में मैंने पूछा, तो क्या यहाँ से भी खाली हाथ जाऊँगा? उत्तर मिला — नहीं, ऐसा तो नहीं है परन्तु विराट् स्वरूप देखने तथा समझने का तुम में सामर्थ्य नहीं है। बस, जो कुछ अन्यों से मेरे विषय में सुन रखा है, उसी को मुझसे पूछकर तसल्ली कर लो। और सुनो! दयानन्द मेरा मानस-पुत्र है। वह महामानव है। तुम उसे देखना चाहोगे तो आँखें चुन्धिया जाएँगी। तुम बौने हो, उस तक पहुँच नहीं पाओगे।

उस आलोक-पुरुष दण्डी विरजानन्द के विषय में जो थोड़ा सुन पाया हूँ , पढ़ा है, जाना है, वह इन पृष्ठों में ऋषि बोध पर्व के पुनीत अवसर पर आप सब के साथ सांझा करता हूँ। बहुत सम्भव है कि आपका पात्र मेरे पात्र से उत्तम हो और आपके हिस्से में प्रभुकृपा से कुछ अमृतकण आ जाएँ। दण्डीजी से सम्बद्ध नूतन जानकारी, उनके जीवनदर्शन की बेहतर समझ विषयक दिशा-निर्देश तथा आपके अन्य सुझावों की मुझे प्रतीक्षा रहेगी ।

रामप्रकाश (डॉक्टर)

कुरुक्षेत्र : 12 मार्च, 2002

पुनश्च

जैसे वर्षा की प्रथम बौछार को प्यासी धरती क्षण भर में पी जाती है पर उसकी प्यास शान्त नहीं होती, उसी प्रकार 'गुरु विरजानन्द दण्डी' के प्रथम संस्करण की पाँच सहस्त्र प्रतियाँ कुछ महीनों में ही विद्वत् जगत् में लीन हो गईं, पर सुधी पाठकों की पिपासा शान्त होने की बजाय तीव्रतर हो गई। इस संस्करण का जो स्वागत हुआ, उसकी कल्पना भी नहीं की थी। पाठकों ने इस प्रयास को खूब सराहा। मथुरा के पौराणिक पण्डितों में दण्डीजी के प्रति श्रद्धा बलवती हुई। भाई राजेन्द्र जिज्ञासु ने तो यहाँ तक लिख दिया कि इस पुस्तक का 'शत-शत नमन' अध्याय प्रत्येक आर्ययुवक को कण्ठस्थ कर लेना चाहिये। दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों को समझने में भी यह पुस्तक माध्यम बनी है।

प्रथम संस्करण के समय पण्डित मुकुन्ददेव लिखित 'दण्डीजी की जीवनी' का हस्तलेख भरसक प्रयत्न करने पर भी उपलब्ध न हो पाया था। प्रभुकृपा और पण्डित कृष्णदेव गोस्वामी तथा न्यायमूर्ति (सेवा-निवृत्त) रमेशचन्द्रदेव के सौजन्य से वह नायाब दस्तावेज मुझे मिल गया, जिसे अप्रैल 2003 में सम्पादित करके प्रकाशित कर दिया गया। इस नूतन संस्करण में मुकुन्ददेव की रचना से मिलान किया गया है, जिससे तथ्यों की प्रामाणिकता बढ़ी है।

दण्डीजी उन्नीसवीं सदी में अविद्यांधकार से वैदिक आलोक में ले जाने वाले सत्पुरुष थे। सम्प्रदायों की बढ़ती भीड़, पुराणों की कथाओं के कोलाहल में दबती वैदिक मन्त्रों की ध्वनि, लोक-साहित्य के नाम पर योगेश्वर कृष्ण के निष्कलंक जीवन पर किया जा रहा मिथ्या दोषारोपण, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि का प्रचलन, अष्टाध्यायी पढ़ने को आर्यसमाजीपन की पहचान समझना ... आज भी उनके विचारों की पूर्ववत् प्रासांगिकता का प्रमाण है। निस्सन्देह दण्डीजी के चिन्तन को मननपूर्वक स्वीकार करने से ही महर्षि दयानन्द का आर्षग्रन्थ एवं आर्ष मान्यताओं सम्बन्धी आन्दोलन सफल होगा।

आवरण सज्जा के लिए प्रिय सिद्धार्थप्रतापसिंह तथा सुझावों के लिए प्रिय जितेन्द्र रामप्रकाश, डॉ. वेदपाल (बड़ौत), विरजानन्द दैवकरणि और डॉ. राजेन्द्र विद्यालंकार का धन्यवाद।
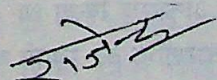
कुरुक्षेत्र : जून 2006

रामप्रकाश (डॉक्टर)

आभार

आर्यजगत् के सुख्यात लेखक एवं ओजस्वी वक्ता डॉ. रामप्रकाश जी द्वारा लिखित इस पुस्तक का संशोधित द्वितीय संस्करण प्रस्तुत करते हुए सत्यार्थप्रकाशन हर्ष और गौरव का अनुभव कर रहा है। आर्य सिद्धान्तों पर आधारित साहित्य का हजारों की संख्या में प्रकाशन कर उन्हें जिज्ञासु अध्येताओं तक नि:शुल्क पहुँचाने की (आर्य समाज के प्रचार एवं संगठन में कार्य करने वाले) कई साथियों की सदिच्छा ही सत्यार्थ-प्रकाशन का संकल्प है। कैसा विरोधाभास है कि हमारे (आर्यसमाज के) पास जितने साधन निरन्तर बढ़ते गए हैं, उतना ही वेदप्रचार का मुख्य कार्य घटता गया है। यदि इसे निराशा कह कर खारिज न किया जाए तो वस्तुस्थिति यह है कि वेदप्रचार कार्यक्रम में आने वाला व्यक्ति हमें अपने ऊपर अहसान करता नजर आने लगा है। हमारा पुराना पाठक वर्ग निरन्तर कम होता जा रहा है, नया पाठक वर्ग आकर्षित नहीं हो पा रहा है। इस स्थिति के लिए अन्य कारणों के साथ-साथ साहित्य का अत्यन्त महँगा होना और सीमित स्थानों पर ही उसकी उपलब्धता भी मुख्य कारण है। सत्यार्थ-प्रकाशन ने इस दिशा में कुछ रचनात्मक प्रयास शुरू किए हैं। हमें इस बात की खुशी है कि हमारे पिछले प्रकाशनों ने पाठक वर्ग में हमारे आगामी प्रकाशनों के प्रति आशातीत उत्सुकता एवं हलचल पैदा की है। हम इस बात को खासतौर से रेखांकित करना चाहेंगे कि अभी तक सत्यार्थ-प्रकाशन द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकें नि:शुल्क ही वितरित की गई हैं। प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन आर्यजगत् की यशस्वी विभूति श्री विश्वनाथ जी की अनुशंसा पर लाला दीवानचन्द धर्मार्थ ट्रस्ट दिल्ली के द्वारा दिए गए आर्थिक सहयोग से हो पा रहा है। सत्यार्थप्रकाशन न्यास इस महान आहुति के लिए लाला दीवानचन्द धर्मार्थ ट्रस्ट दिल्ली का समस्त पाठक वर्ग की ओर से कोटिश: धन्यवाद ज्ञापित करता है। हम श्रीयुत् विश्वनाथ जी के साथ ट्रस्ट के अन्य अधिकारी श्री राजेन्द्र गुप्ता जी के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। प्रभु से प्रार्थना है कि इस अनुष्ठान का संकल्प कमजोर न होवे।

राजेन्द्र विद्यालंकार (डॉक्टर)
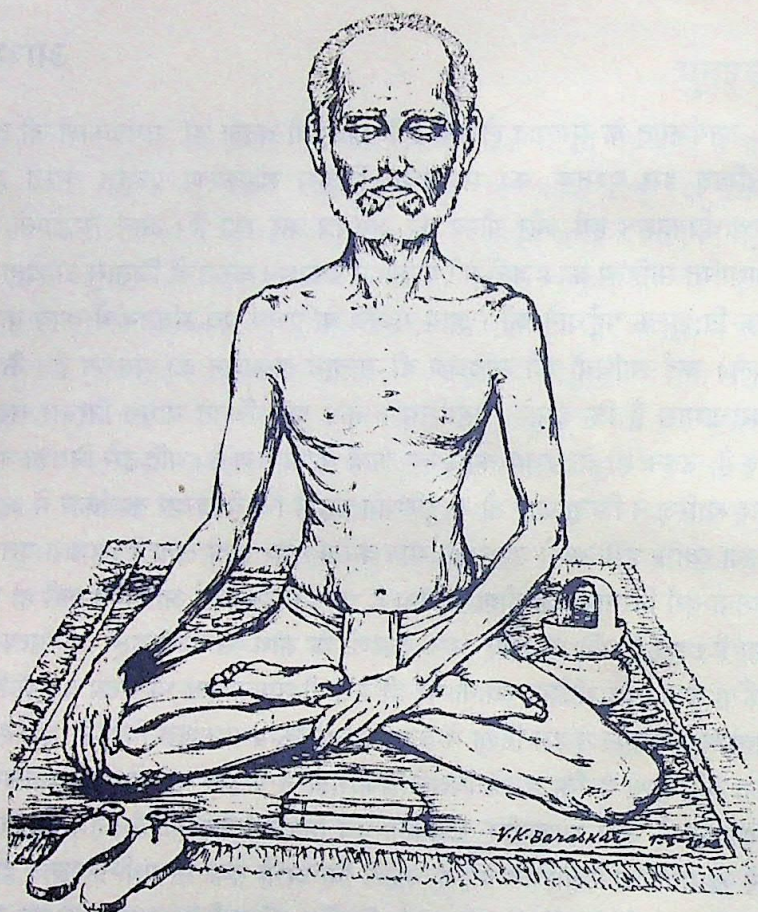
समय आने पर जिस दयानन्द के समक्ष सभी पण्डित, आचार्य, वैयाकरण, योगी, यति, पादरी, मौलवी, मठाधीश तथा आस्तिक, नास्तिक एवं संशयवादी चिन्तक निस्तेज और निष्प्रभ सिद्ध हुए, उसकी प्रतिभा जिस प्रतिभा के सामने हतप्रभ हुई थी, उसके पाण्डित्य ने जिसके पाण्डित्य का लोहा माना था, उसकी विचारशक्ति ने जिसकी विचारशक्ति का अनुसरण किया था; कैसा अद्‌भुत होगा ऐसी प्रतिभा, पाण्डित्य व विचारशक्ति का स्वामी वह दण्डी साधु!

डॉ. रामप्रकाश

बाल्यकाल

आर्यसमाज के इतिहास में पंजाब प्रदेश की प्रमुख भूमिका रही है। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, स्वामी श्रद्धानन्द, पण्डित लेखराम, महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय, महाशय राजपाल, शहीद भगतसिंह के दादा सरदार अर्जुनसिंह[1] तथा चाचा अजीतसिंह, भाई परमानन्द, स्वामी स्वतन्त्रानन्द, स्वामी आत्मानन्द आदि ऋषि दयानन्द सरस्वती के कई प्रमुख शिष्य इसी धरती के रत्न हैं। ऋषि दयानन्द के विद्यागुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती की जन्मस्थली होने का गौरव भी इसी भूमि को प्राप्त है।

दण्डीजी के पूर्वज पण्डित दयालदास इसी प्रदेश के गुरदासपुर जिले के श्रीगोविन्दपुर[2] ग्राम में 1677 ई. के आस-पास रहते थे। शारद शाखा के भारद्वाज-गोत्रीय इस सारस्वत ब्राह्मण को दिल्ली के मुगल सम्राट् फर्रुखसियर (1713-19 ई.) ने प्रसन्न होकर जालन्धर जिले में करतारपुर[3] के समीप जागीर के रूप में कुछ भूमि दी थी। करतारपुर से आगे धीरपुर[4] से एक किलोमीटर की दूरी पर कभी निज्जरों का कुआँ (निज्जड़ों का खूह)[5] था, इसी के आसपास यह भूमि दी गई थी। इसके पास ही बेंई नदी[6] बहती थी। पण्डितजी के निधन के पश्चात् उनके पुत्र गंगाराम ने अनुभव किया कि वे इतनी दूर रहकर खेती की देखभाल अच्छी प्रकार नहीं कर सकते, अतः करतारपुर के पास अपनी भूमि पर आ गए।[7] वहाँ उन्होंने अपनी आवश्यकतानुसार कुछ घर बसा लिए। धीरे-धीरे बेंई नदी के निकट एक छोटा-सा ग्राम बस गया जिसका नाम उन्हीं के नाम पर गंगापुर पड़ गया। कपूरथला रियासत की सीमा से लगता हुआ यह गाँव जालन्धर जिले में था। अब इस गाँव की भूमि धीरपुर गाँव का भाग है। यहीं उनके पुत्र कर्मचन्द का जन्म हुआ, जिसने श्रीहरगोविन्दपुर से सदैव के लिए सम्बन्ध तोड़कर गंगापुर में रहना शुरू कर दिया। उसने इस जागीर की अच्छी सम्भाल की।

कर्मचन्द के नारायणदत्त और भानुदत्त (भानु अथवा भानाराम)[8] दो पुत्र हुए। छोटा पुत्र भानुदत्त शुरू से ही वैरागी प्रवृत्ति का था। उसकी गृहकार्यों में कोई रुचि नहीं थी, अतः आयु-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर ईश्वर भक्ति में मगन रहा। वह प्रातःकाल स्नान कर बेंई नदी के तट पर बनी कुटिया में नित्यकर्म

किया करता था, इसी कारण इस स्थान का नाम भाने का पत्तन[9] प्रसिद्ध हो गया था। ब्रह्मचारी भानुदत्त बेंई में पानी की गहराई बताकर नदी पार करने वालों की सहायता करता था। स्वयं भी नाव चलाकर लोगों को नदी पार करवा देता था। पण्डित नारायणदत्त ही सभी गृहकार्य सम्पन्न करते थे। जहाँगीर द्वारा अपनी बेगम के नाम पर बसाए गए नूरमहल (जिला जालन्धर) में उनकी ससुराल बताई गई है। वे अच्छे विद्वान् थे। उन्हें संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान था। नारायणदत्त के दो पुत्र हुए। ज्येष्ठ पुत्र धर्मचन्द था। स्वनामधन्य छोटा पुत्र कालान्तर में विरजानन्द दण्डी के नाम से लोक-विख्यात हुआ। इसका पिता-प्रदत्त जन्म-नाम व्रजलाल था।[10]

वीतराग संन्यासी स्वामी विरजानन्द दण्डी स्वकुल-परिचय तथा जन्मस्थानादि के विषय में किसी को कुछ नहीं बताते थे। अपने शिष्यों के बहुत आग्रह पर एक बार उन्होंने कहा, "**सियालकोटाऽमृतसरनामनगरयोरन्तराले इरावती (रावी) सन्निहिते ... ग्रामे सारस्वतवैशारदवंशावतंसपण्डित श्रीनारायणदत्ततनूज इदानीं दण्डित्वेन प्रसिद्ध इति**" अर्थात् 'सियालकोट अमृतसर के मध्य में इरावती (रावी) के निकट ... ग्राम में सारस्वत (शारद शाखा) ब्राह्मण नारायणदत्त का एक पुत्र दण्डी नाम से जाना जाता है।'[11] सियालकोट तथा अमृतसर के मध्य रावी के निकट गुरदासपुर जिला है। इसी जिले के श्रीगोविन्दपुर ग्राम में दण्डी जी के पूर्वज पण्डित दयालदास रहते थे। शारद शाखा के सारस्वत ब्राह्मण इसी क्षेत्र में बसते थे। तब करतारपुर (जालन्धर) के निकट इस गोत्र का कोई परिवार न था। इस प्रकार दण्डी जी के इस कथन से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं, फिर भी ग्राम का नाम पता नहीं चलता।

पण्डित लेखराम, देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय आदि सभी जीवनी-लेखकों ने गंगापुर को एक स्वर से व्रजलाल (दण्डी विरजानन्द) का जन्मस्थान स्वीकार किया है। मथुरा निवासी पण्डित युगलकिशोर स्वामी विरजानन्द के न केवल शिष्य थे, अपितु बहुत निकट थे। वे भी गंगापुर को ही जन्मस्थान मानते हैं।[12] महाशय कृष्ण सम्पादक प्रताप (लाहौर) तथा लाला देवराज संस्थापक कन्या महाविद्यालय, जालन्धर की उपस्थिति में आर्यसमाज करतारपुर[13] के 13-15 सितम्बर, 1929 को आयोजित वार्षिकोत्सव पर गुरु विरजानन्द के जन्मस्थान का निर्णय करने के लिए एक समिति बनाई गई थी, जिसके सदस्य आर्यसमाज करतारपुर के कोषाध्यक्ष महाशय रघुनन्दनलाल तथा यमुनादास थे। इस समिति

ने भी निकटवर्ती कई गाँवों के वृद्धों से पूछकर गंगापुर को ही जन्मस्थान माना था।[14] उनमें से कई सज्जन स्वयं धर्मचन्द, उनके छोटे भाई व्रजलाल तथा उनके दोनों पुत्रों साधुराम व मुकुन्दलाल को जानते थे तथा उनकी गंगापुर वाली भूमि पर पशु चराने जाते रहे थे। यह छोटा-सा गाँव बेंई नदी के निकट होने के कारण प्रति वर्ष वर्षा ऋतु में जल संकट से घिर जाता था और यही जल संकट उसके नष्ट होने का कारण बना। तब यह परिवार भी अन्य परिवारों की तरह करतारपुर में रहने लग पड़ा था। अपनी खेती-बाड़ी की देखभाल के लिए लगभग प्रतिदिन गंगापुर के थेह आते थे।

गंगापुर गाँव 1797 ई. में नष्ट हो गया था। गाँव तो मिट गया पर नाम अमिट है। इसकी 1850 ई. के बाद के उपलब्ध भूराजस्व रिकॉर्ड में चर्चा नहीं है। धीरपुर के काबुलसिंह रंधावा के पुत्रों ने लेखक को बताया कि गंगापुर का थेह उनकी भूमि में है और खेतों में हल चलाते समय भूमि में से सोना चाँदी के पुराने सिक्के, दीये व बर्तन निकलते थे। इसी प्रकार निज्जरों के कुएँ के पास के खेत में हल चलाते हुए भानसिंह बाठ को भूमि में से हुक्के की पीतल की नली, बर्तन, मिट्टी के घड़े आदि कई अवशेष मिले थे, जिससे यह निश्चित है कि गंगापुर गाँव यहीं आसपास स्थित था।[15] निज्जरों के कुएँ के पास गंगापुर का थेह था -- ऐसा 1929-30 ई. में निकटवर्ती गाँवों के लोगों ने महाशय रघुनन्दनलाल को भी बताया था। निज्जरों के कुएँ वाले खेत भानसिंह बाठ के परिवार से पहले करतारपुर के गुरु धीरमल के अधिकार में थे।

व्रजलाल की जन्मतिथि के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। ऋषि दयानन्द ने अपने गुरुवर्य विरजानन्द दण्डी की चर्चा करते हुए पुणे प्रवचन में कहा था कि जब वे गुरुचरणों में उपस्थित हुए "उस समय उनकी अवस्था इक्यासी वर्ष की हो चुकी थी।"[16] यदि ऋषि दयानन्द इतना संकेत न करते तो दण्डी विरजानन्द के जन्मकाल का रहस्य कभी न खुल पाता। ऋषि दयानन्द के सभी जीवनी-लेखक उनका मथुरा आगमन नवम्बर 1860 का मानते हैं। इस पुष्ट आधार पर स्वामी विरजानन्द दण्डी (व्रजलाल) का जन्मकाल 1779 ई. का उत्तरार्द्ध (कार्तिक 1836 वि.) बनता है। पण्डित लेखराम और उन्हीं के आधार पर रामविलास शारदा, लक्ष्मण आर्योपदेशक, बावा छज्जूसिंह तथा मेहता राधाकिशन ने इस बालक का जन्म सम्वत् 1854 वि. (अर्थात् 1797 ई.) लिखा है, जो सही तथा तथ्याश्रित नहीं है।[17] देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

के अनुसार उनका जन्मकाल 1778-79 ई. (सम्वत् 1835-36 वि.) है। भीमसेन शास्त्री ने उनका जन्मकाल 1778 ई. का अन्त (सम्वत् 1835 वि. के उत्तरार्द्ध में पौष मास) तथा जार्डन्स ने 1779 ई. माना है। तब जालन्धर के आसपास का क्षेत्र फैज़लपुरिया मिसल के अधीन था।[18]

प्राय: माना जाता है कि इस बालक को पाँच वर्ष की आयु में चेचक हुई। परिणामस्वरूप दोनों नेत्रों की ज्योति चली गई। पण्डित लेखराम ने चेचक से आक्रान्त तथा दृष्टिविहीन होने के समय आयु अढ़ाई अथवा पाँच वर्ष लिखी है। क्योंकि स्वामी विरजानन्द को वस्तुओं के आकार तथा सफेद, काला, लाल आदि रंगों का बोध नहीं था, अत: सम्भव है कि वे पाँच साल से कम आयु में ही नेत्रहीन हो गए हों।[19] यह निश्चित है कि न तो वे जन्मान्ध थे, न ही पाँच वर्ष से अधिक नेत्र-ज्योतिवान् रहे। वैसे विधाता का विधान विचित्र है। एक द्वार बन्द होता है तो दूसरा खुल जाता है। बालक नेत्र-ज्योति से तो वंचित हो गया परन्तु विलक्षण स्मृति तथा तीव्र बुद्धि का धनी हुआ।

बालक के नेत्रहीन होने पर भी पिता ने उसे आठ वर्ष की आयु में स्वयं आरम्भिक शिक्षा देने का आयोजन किया। अत: पिताश्री से यज्ञोपवीत संस्कार व गायत्री की दीक्षा के पश्चात् इस बालक ने शुरू में उनसे संस्कृत व सारस्वत व्याकरण[20] पढ़ना आरम्भ किया और फिर अमरकोश[21] कण्ठस्थ किया। इसके अतिरिक्त पंचतन्त्र अथवा हितोपदेश भी पढ़ा। इस प्रकार तीन-चार वर्ष में उसे संस्कृत बोलने का अच्छा अभ्यास हो गया और यह आवश्यकतानुसार उसकी सामान्य वार्तालाप की भाषा बन गई।

भीमसेन शास्त्री के अनुसार स्वामी विरजानन्द को उर्दू-फ़ारसी लेखन-पठन का सम्यक् ज्ञान था। उनका यह मानना कि "वे फ़ारसी लिपि, उर्दू भाषा के लेखन-पठन से परिचित अपनी चक्षुष्मत्ता के काल में ही हो चुके थे, इसमें सन्देह नहीं,"[22] पूर्णतया निराधार है। पण्डित मुकुन्ददेव के सन्दर्भित वाक्यों में ऐसा लेशमात्र भी संकेत नहीं है।[23] तब मौलवी ही मदरसों में उर्दू-फ़ारसी पढ़ाते थे। गंगापुर में ऐसा न कोई मौलवी था, न मदरसा। कालान्तर में स्वामी विरजानन्द ने ये भाषाएँ सीख ली थीं परन्तु प्रज्ञाचक्षु दण्डीजी उर्दू-फ़ारसी लिख और पढ़ भी सकते थे — इसका कोई प्रमाण नहीं है।

ग्यारह वर्ष तक बालक को माता-पिता का संरक्षण प्राप्त रहा। बारहवें वर्ष में पहले पिता और फिर माता दोनों ही इस संसार से चल बसे। अब यह

बालक केवल नेत्रविहीन ही नहीं अपितु अनाथ भी हो गया। परमपिता तथा भाई-भावज का सहारा ही शेष रह गया। पितृवियोग के पश्चात् कुछ दिन तो भाई धर्मचन्द का व्यवहार स्नेह भरा रहा परन्तु बाद में भाई-भाभी ने नेत्रविहीन, अनाथ व असहाय बालक के साथ दुर्व्यवहार शुरू कर दिया। वे प्रायः कुवाक्य कहते, दुतकारते तथा अवहेलना करते। उसे अन्न-वस्त्रादि देना भी उन्हें भार लगने लगा। जब भोजन की जगह गाली तथा प्रताड़ना मिलने लगी तो वह दुखी तथा भविष्य के बारे में चिन्तित रहने लगा।

तेजस्वी बालक व्रजलाल आरम्भ से ही स्वाभिमानी तथा उग्र स्वभाव का था। उससे स्वजनों का यह व्यवहार सहा न गया। वह भाई-भाभी की उनके दुर्व्यवहार के लिए कटु आलोचना कर देता था। इसलिए गाँव में कोई-कोई उसे दुर्वासा कह देता था। इस अनुभव का उस पर कालान्तर में ऐसा प्रभाव पड़ा कि इस विरक्त व्यक्तित्व ने फिर कभी किसी से अपनी व्यथा-कथा नहीं कही। शायद वह सर्वनियन्ता इस बालक को पूर्ण वैरागी, दृढ़निश्चयी एवं स्वावलम्बी बनाने के लिए उसके सब सहारे छीन रहा था।

इन विषम परिस्थितियों में भाई-भाभी के घर[24] में रहना मुश्किल हो गया। बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने तेरह वर्ष की आयु में किसी को बताए बिना सदा के लिए पितृगृह[25] तथा पंजाब प्रदेश छोड़ दिया। विद्याजगत् में एक अपूर्व क्रान्ति का सूत्रधार बनने की स्वयं में सम्भावनाएँ संजोए इस बालक के लिए यह अप्रसिद्ध स्थान वैसे भी उपयुक्त स्थल नहीं था। कालान्तर में विकसित होने के लिए उसे अन्यत्र उपयुक्त भूमि खोजनी ही पड़ती। बाल रवि कब तक इस अन्धियारे कोने में पड़ा रहता? भाई-भावज तो व्यर्थ ही अपयश के भागी बन गए।

1820 ई. के आस-पास करतारपुर में जन्मी तथा ग्राम बोपाराय (जिला जालन्धर) में विवाहित एक सौ दस वर्षीया माता गोमती देवी ने 1929 ई. में रघुनन्दनलाल समिति को बताया था कि जब वह ग्यारह-बारह वर्ष की थी तब उसके बुज़ुर्ग बताया करते थे कि धर्मचन्द और उसका परिवार करतारपुर में रहता था परन्तु अपने अन्धे भाई को घर से निकालने की लोक-चर्चा से दुखी होकर वे करतारपुर छोड़कर किसी अज्ञात स्थान पर जा बसे थे और उनकी जागीर भी छिन्न-भिन्न हो गई थी।[26]

असहाय बालक व्रजलाल ऋषिकेश की ओर चल पड़ा। प्राचीनकाल से ही

ऋषिकेश पुण्यप्रद पवित्र स्थान माना जाता रहा है। अपेक्षाकृत पंजाब के निकट होने के कारण एक ब्राह्मण बालक का वहाँ जाने का निर्णय स्वाभाविक ही था। तब ऋषिकेश तक न कोई सड़क थी, न ही रेलवे लाइन। एक नेत्रहीन बालक के लिए उस छोटी आयु में इतनी लम्बी पदयात्रा करना सरल नहीं था। निराश एवं दुखी बालक के लिए चारों ओर अन्धेरा था। न जाने कहाँ-कहाँ धक्के खाते और कष्ट झेलते यह निरुद्देश्य संतप्त आत्मा लगभग दो-अढ़ाई वर्ष में पैदल ऋषिकेश पहुँची।

रास्ते में उसे कई साधु, संन्यासी, महात्मा एवं धार्मिक जन मिले। कहते हैं कि एक संन्यासी के साथ कई स्थानों का भ्रमण तथा कुछ अध्ययन भी किया।[27] किसी धार्मिक व्यक्ति ने इस यात्रा में उसकी कुछ आर्थिक सहायता भी की।[28] रास्ते में वह संस्कृत ही बोलता था। इस तरह पन्द्रह वर्ष की आयु में ग्रामानुग्राम विचरता हुआ ऋषिकेश पहुँच गया। मन की शान्ति के लिए उसने ईश-आराधना में स्वयं को लगाने का निश्चय किया।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. दादा अर्जुनसिंह दृढ़ आर्यसमाजी थे और प्रतिदिन यज्ञ करते थे। सफ़र में भी यज्ञकुण्ड साथ रखते थे। इस प्रसंग में क्रान्तिकारी यशपाल ने एक अति रोचक संस्मरण अपनी पुस्तक 'सिंहावलोकन' के पृष्ठ 23-25 पर लिखा है, जो पढ़े ही बनता है। अधिक जानकारी हेतु द्रष्टव्य: वीरेन्द्र सिन्धु , युगद्रष्टा भगतसिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे, पृष्ठ 16-22

2. गुरु अर्जुनदेव ने व्यास के किनारे कुछ भूमि खरीदकर अपने पुत्र एवं उत्तराधिकारी हरगोविन्द के नाम पर यह नगर बसाया था। अब इसका नाम श्रीहरगोविन्दपुर है।

3. करतारपुर भी गुरु अर्जुनदेव ने बादशाह जहाँगीर द्वारा दी गई भूमि पर 1588 ई. में बसाया था। यह जालन्धर नगर से 16 किलोमीटर दूर अमृतसर जाने वाले राजमार्ग पर स्थित है। गुरु नानक का बसाया करतारपुर इससे भिन्न एक दूसरा नगर है।

4. जालन्धर से अमृतसर जाने वाली सड़क पर करतारपुर से आगे दयालपुर का बस स्टॉप है। यहाँ से लगभग तीन किलोमीटर दाईं ओर धीरपुर गाँव है।

5. एक समृद्ध निज्जर जमींदार की बेटी ने अपने पिता से कहा कि ससुराल आते-जाते रास्ते में पीने के पानी की व्यवस्था नहीं है। अत: पिता ने थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कई कुँएं बनवा दिए , जो निज्जरों के कुँओं के नाम से जाने जाते थे। ऐसा ही एक कुँआ दयालपुर में भी था। यह कुँआ गाँव धीरपुर से लगभग एक किलोमीटर काली बेंई की ओर सड़क के किनारे स्थित था। इस कुँएं से गंगापुर का थेह आधा किलोमीटर दूर था। जिस खेत में निज्जरों का यह कुँआ था, उस पर अब धीरपुर के भानसिंह बाठ का स्वामित्व है। उसने 1990 ई. के लगभग यह कुँआ बन्द कर दिया और इसकी ईंटें उठवा दीं (भानसिंह बाठ से लेखक का निजी साक्षात्कार, अगस्त 2001) ।

6. इस नदी में चिकनी और काली मिट्टी होने के कारण पानी का रंग काला दिखाई देता

है। अतः इसे काली बेंई कहते हैं। पहले यह गंगापुर के निकट बहती थी, फिर थेह से लगभग एक किलोमीटर दूर चली गई। यह धीरपुर और कुद्दोवाल के पास से गुजरती है।

7. यज्ञयोग ज्योति, मार्च-अप्रैल 1966 ; निरंजनदेव, गुरु विरजानन्द, पृष्ठ 4

8. यज्ञयोग ज्योति के फरवरी और मार्च-अप्रैल 1966 ई. के अंकों में भानाराम को कर्मचन्द का छोटा भाई लिखा है, जो सही नहीं है।

9. नंगल मन्नौर गाँव के निकट बेंई नदी के तट पर भाने का पत्तन था — ऐसा आज भी पुराने लोग बताते हैं। भाने के पत्तन की निज्जरों के कुँए से तथा गंगापुर से सीधी दूरी लगभग एक-एक किलोमीटर थी। पंजाब की बोलचाल की भाषा में पत्तन उस स्थान को कहते हैं, जहाँ नदी पैदल या बेड़ी द्वारा पार की जाती है।

10. विरजानन्द ने स्वरचित वाक्यमीमांसा में स्वयं अपने पिता का नाम तथा गोत्र क्रमशः नारायणदत्त और भारद्वाज घोषित किया है (द्रष्टव्य : पृष्ठ 15)। विरजानन्द के वंश सम्बन्धी विस्तृत जानकारी सर्वप्रथम करतारपुर निवासी महाशय रघुनन्दनलाल तथा यमुनादास ने नवम्बर 1929 में ज्वालापुर (उत्तरांचल) निवासी पण्डे ज्वालाप्रसाद (तब आयु 60-65 वर्ष) से प्राप्त की थी (द्रष्टव्य : लाहौर से प्रकाशित उर्दू दैनिक प्रताप, 15 नवम्बर, 1929; यज्ञयोग ज्योति, मार्च-अप्रैल 1966; स्मारिका गुरु विरजानन्द वैदिक संस्कृत विद्यालय, करतारपुर, अक्तूबर 1980)। **उससे पूर्व दण्डी जी का पिता प्रदत्त जन्मनाम किसी को भी ज्ञात नहीं था।**

11. मथुरा के जन्मना ब्राह्मण दण्डी जी के शिष्यों से शास्त्रार्थ के समय बार-बार पूछा करते थे - '**भवदध्यापको दण्डी कुत्रत्यः किञ्जातीयश्च**' अर्थात् 'आपके अध्यापक दण्डी जी कहाँ से हैं और किस जाति के हैं ?' जानकारी के अभाव में शिष्य उत्तर न दे पाते थे। उन शिष्यों की समस्या के समाधानार्थ शिष्य-वत्सल दण्डी जी को यह जानकारी देनी पड़ी (द्रष्टव्य : मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 14)।

12. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 7 पाद टिप्पणी। भीमसेन ने विरजानन्द-प्रकाश में पृष्ठ 2 पर लिखा है — ''ऐसा प्रतीत होता है कि ... इस भव्य बालक का जन्म नूरमहल में हुआ था।'' यह पूर्णतया गलत है। सर्वप्रथम देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को ही मथुरा के किसी वृद्ध ने ऐसा बताया था परन्तु पण्डित युगलकिशोर की साक्षी के आधार पर वे गंगापुर को ही जन्मस्थान स्वीकार करते हैं।

13. आर्यसमाज करतारपुर की स्थापना 1894 ई. में महात्मा मुन्शीराम तथा पण्डित लेखराम के पुरुषार्थ से हुई थी। जब पण्डित लेखराम उपदेश कर रहे थे तो पौराणिकों ने उन पर पत्थर फैंके। पण्डित जी ने अपनी पगड़ी उतार ली और कहा — मुझे ये पत्थर खाने में बहुत आनन्द आ रहा है। वह दिन भी आएगा जब आप मेरे मिशन के प्रचार पर पुष्प बरसाएँगे। तत्पश्चात् वहीं आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

14. इस समिति की उर्दू में लिखी रिपोर्ट अब उपलब्ध नहीं है। चकगुजरां (जिला होशियारपुर) के निवासी पण्डित निरंजनदेव आर्योपदेशक ने रघुनन्दनलाल से मिलकर इस रिपोर्ट के आवश्यक अंश 31 जुलाई, 1949 को लिख लिए थे। ऐसा पण्डित निरंजनदेव ने लेखक को जून 2001 में बताया था। इस रिपोर्ट का संक्षेप गुरु विरजानन्द वैदिक संस्कृत

विद्यालय, करतारपुर की अक्तूबर 1980 तथा सितम्बर 1981 ई. में छपी स्मारिकाओं में प्रकाशित है। महाशय रघुनन्दनलाल (1891-1986 ई.) ने अपनी रिपोर्ट की ये जानकारी 1980 ई. में स्वयं स्मारिका के लिए दी थी। उनका अपना लेख यज्ञयोग ज्योति के मार्च-अप्रैल 1966 के अंक में पृष्ठ 58-60 पर छपा था। वृद्धावस्था में स्मृति के आधार पर लिखे इस लेख में कुछ अशुद्धियाँ भी हैं।

15. धीरपुर गांव के भानसिंह बाठ (92 वर्ष) सुपुत्र सौदागरसिंह बाठ, अमरसिंह सेखों (81 वर्ष) सुपुत्र नारायणसिंह सेखों, प्रीतमसिंह सेखों (70 वर्ष) सुपुत्र चन्दासिंह सेखों तथा लश्करसिंह रंधावा (55 वर्ष) व चंचलसिंह रंधावा (52 वर्ष) सुपुत्र काबुलसिंह और मल्लियां ग्राम के इन्द्रसिंह (85 वर्ष) सुपुत्र शेरसिंह से लेखक तथा त्रिलोचनसिंह बिन्दरा के निजी साक्षात्कार, मई, अक्तूबर 2001; इन ग्रामवासियों ने हमें वे स्थान दिखाए जहाँ निज्जरों का कुँआ, गंगापुर का थेह तथा भाने का पत्तन थे।

16. ऋषि दयानन्द, उपदेश-मंजरी (पुणे प्रवचन), पन्द्रहवां प्रवचन; भगवद्दत्त (सम्पादक), ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वरचित जन्म-चरित्र, पृष्ठ 52

17. पण्डित लेखराम संग्रहीत ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित (उर्दू) के आरम्भ में ऋषिवर की स्वकथित आत्मकथा वर्णित है। वहाँ पृष्ठ 22 पर 1860 ई. में दण्डीजी की आयु इक्यासी वर्ष लिखी है। अतः पृष्ठ 880 पर दण्डीजी का जन्म सम्वत् 1854 गलती से लिखा गया अथवा छप गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार लक्ष्मण आर्योपदेशक ने 'जीवन चरित्र महर्षि दयानन्द सरस्वती' के हिस्सा अव्वल, बाब अव्वल के पृष्ठ 27 पर सम्वत् 1917 वि. में दण्डीजी की आयु इक्यासी वर्ष लिखी है परन्तु बाब दोम पृष्ठ 57 पर दण्डीजी का जन्म सम्वत् 1854 वि. लिख दिया। किसी भी जीवनी लेखक का ध्यान इस विसंगति पर नहीं गया — यह आश्चर्य की बात है।

18. पण्डित लेखराम ने लिखा है कि नारायणदत्त महाराजा रणजीतसिंह के शासनकाल में हुए (द्रष्टव्य : महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज का जीवन चरित्र, पृष्ठ 880)। ऐसा ही राधाकिशन ने लिखा है। यह सही नहीं है। नारायणदत्त का देहावसान 1790 ई. के लगभग हुआ था। रणजीतसिंह को गद्दी 1797 ई. में मिली थी और जालन्धर के आसपास के क्षेत्र पर उसका अधिकार 6 अक्तूबर, 1811 को हुआ था। उससे पहले 1794 ई. में ब्यास के दोनों ओर का यह क्षेत्र फैज़लपुरिया मिसल (सिंहपुरिया मिसल) के बुधसिंह के अधीन था। जालन्धर 1766 ई. में इस मिसल के मुखिया खुशहालसिंह के कब्जे में आ गया था।

19. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 10 पाद टिप्पणी। जॉर्डन्स तथा हरविलास शारदा ने पाँच वर्ष और पण्डित मुकुन्ददेव ने छह वर्ष लिखा है।

20. दण्डी विरजानन्द के बाल्यकाल के समय पंजाब में सारस्वत व्याकरण का प्रचलन था। यह अनुभूतिस्वरूपाचार्य की 1250 ई. के लगभग की रचना है। इसमें सात सौ सूत्र हैं। पण्डित लेखराम तथा देवेन्द्रनाथ ने क्रमशः सारस्वत तथा व्याकरण पढ़ना लिखा है परन्तु मुकुन्ददेव के अनुसार हलन्त पुलिंग तक साधनिका सहित सारस्वत पढ़ी थी। फिर पिता जी दिवंगत हो गए (द्रष्टव्यः दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 15)।

21. बौद्ध विद्वान् अमरसिंह की 600 ई. से पूर्व की यह रचना नामलिंगानुशासन नाम से

भी जानी जाती है। श्लोकात्मक यह शब्दकोश तीन काण्डों में हैं।

22. भीमसेन शास्त्री, विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 3, 4, 86

23. मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 21

24. हरविलास शारदा ने 'चाचा-चाची का घर' लिखा है। सम्भवत इसीलिए जॉर्डन्स भी 'चाचा का घर' लिखते हैं। यह सही नहीं है। विरक्त चाचा भानाराम तो आजीवन ब्रह्मचारी रहे, अत: भाई-भाभी का घर ही सही है।

25. हरविलास शारदा ने चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में गृह-त्याग लिखा है (Life of Dayanand Saraswati, p.26), जो सही नहीं है।

26. निरंजनदेव, गुरु विरजानन्द, पृष्ठ 6; लगभग 1992-93 ई. में पण्डित निरंजनदेव को टोहाना निवासी पण्डित राजाराम शास्त्री ने चण्डीगढ़ में बताया था कि धर्मचन्द के पौत्र स्वर्गीय जयगोपाल कोटकपूरा में ज्योतिष का कार्य करते थे। उनका कोई पुत्र नहीं था। केवल तीन पुत्रियाँ थीं। राजाराम शास्त्री पण्डित जयगोपाल के शिष्य थे। यह जानकारी पण्डित जयगोपाल ने किसी आर्यसमाज को इसलिए नहीं दी कि फिर वह चर्चा शुरू हो जाएगी कि उनके दादा ने अपने छोटे भाई को घर से निकाल दिया था (पण्डित निरंजनदेव से लेखक का चण्डीगढ़ में साक्षात्कार, 20 अगस्त, 2001)। दण्डी जी का वंशवृक्ष इस प्रकार है :
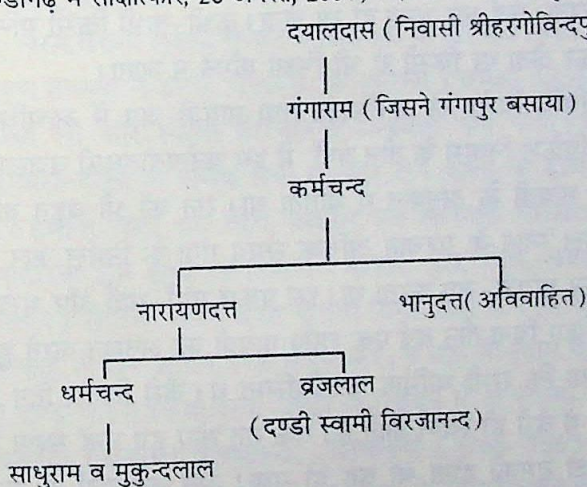
27. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय व्रजलाल का ऋषिकेश पहुँचने से पूर्व नाना स्थानों पर घूमना तथा कुछ अध्ययन करना संगत नहीं मानते (विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 12 पाद टिप्पणी)। परन्तु गंगापुर से ऋषिकेश तक जाने में दो-अढ़ाई वर्ष लगे थे, अत: मार्ग में इधर-उधर घूमना तथा कई स्थानों पर ठहरना सही लगता है।

28. पण्डित मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, पृष्ठ 15, इस सज्जन का नाम, स्थान तथा दी गई सहायता राशि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

परिभ्रमण

दो सौ वर्ष पहले का ऋषिकेश आज जैसा निरापद नगर नहीं था। तब यह तपस्वियों की एक बस्ती मात्र था। इसका वास्तविक नाम हृषीकेश (शाब्दिक अर्थ — ज्ञानेन्द्रियों का स्वामी) ही यह दर्शाता है कि यहाँ केवल वे तपस्वी ही रहते थे जो या तो इन्द्रियों के स्वामी बन चुके थे या बनना चाहते थे। अतः तब जनसंख्या बहुत कम तथा दूर-दूर बसी हुई थी। साधुओं की घासफूस की बनी हुई कुटियाओं के अतिरिक्त ऊँची अट्टालिकाएँ तब कहाँ थीं? न कोई धर्मशाला थी, न अन्नक्षेत्र। चारों ओर असुरक्षित जंगल थे। हिंसक वन्य-पशुओं का सर्वत्र आतंक था। सारी रात इन पशुओं की आवाजें सुनाई देती थीं। ये पशु कभी-कभी इस तरुण तपस्वी व्रजलाल की पर्णकुटी को भी तोड़ देते थे; वह अगले दिन फिर उसका निर्माण कर लेता था। तरुण तपस्वी कन्दमूल खाकर उदरपूर्ति करता। कई बार भूखा ही रह लेता। कभी-कभी किसी मन्दिर में जाकर भोजन कर लेता पर किसी से भी भिक्षा मांगने न जाता।

तपश्चर्या की विधि विशेष से अनभिज्ञता तथा गायत्री-जप में अत्यधिक श्रद्धा के कारण ऋषिकेश निवास के तीन वर्षों में इस यज्ञोपवीतधारी व्रजलाल का अधिक समय गायत्री के अनुष्ठान में बीतता था। रात को भी बहुत कम सोता था। प्रातःकाल स्नान के पश्चात् अधिक समय गंगा के निर्मल जल में गले तक खड़े होकर गायत्री-जप करता था। इस प्रकार गर्मी-सर्दी और भूख-प्यास की परवाह किए बिना तीन वर्ष एक लाख गायत्री का अनुष्ठान करते हुए इतना घोर तप किया कि सभी धार्मिक जन विस्मित थे। जैसे विचार दिन में होते हैं, प्रायः नींद में वैसे ही स्वप्न आते हैं। एक रात सोए हुए उन्हें स्वप्न में सुनाई दिया — 'जो तुमको होना था वह हो गया। अब तुम यहाँ से चले जाओ।'[1] अचानक आँख खुलने पर उसने इधर-उधर देखा परन्तु कोई व्यक्ति पास न था। यह अन्तर्मन का नाद ईशप्रेरणा थी। इस पर विचार किया तथा तत्काल ऋषिकेश छोड़ने का मन बनाकर हरिद्वार के लिए चल पड़ा। ऋषिकेश आया नेत्रहीन तरुण ब्रह्मचारी अब प्रज्ञाचक्षु बन गया था।

अठारह वर्ष की आयु में उस भयंकर घने जंगल को पार करता हुआ व्रजलाल हरिद्वार पहुँच गया। कुछ दिन पश्चात् वहाँ उनकी भेंट एक दण्डी

संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती[2] से हुई। तब इन स्वामीजी की आयु पचास वर्ष के लगभग थी।[3] मूलतः हरियाणा निवासी[4] गौड़ ब्राह्मण कुलोत्पन्न यह संन्यासी आनन्दस्वामी दण्डी[5] के शिष्य थे। स्वामी पूर्णानन्द कौमुदी[6] के उच्च कोटि के विद्वान् तथा अष्टाध्यायी[7] आदि आर्षग्रन्थों के श्रद्धालु थे। यही श्रद्धा उनके शिष्यों को भी उनसे विरासत में मिली। स्वामीजी ने सौन्दर्यलहरी[8] की एक संस्कृत टीका लिखी थी जिसका हस्तलेख और उन्हीं के हाथ से लिखी दक्षिणामूर्ति-संहिता की पुस्तक मथुरावासी पण्डित गोविन्द चतुर्वेदी[9] के ज्येष्ठ पुत्र मुकुन्दलाल तथा एक वेदान्त विषयक ग्रन्थ पण्डित गंगादत्त के पुत्र विदुरदत्त के पास सुरक्षित थे। स्वामीजी मथुरा में भी वर्षों रहे थे। दण्डी संन्यासी पूर्णानन्द जहाँ कुटिया बनाकर तपस्या करते थे, वह स्थान दण्डीघाट के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। वहाँ बाद में उनके शिष्य किशनसिद्ध चतुर्वेदी महलवाले (1774-1873 ई.) ने वैशाख बदी 13, सम्वत् 1879 वि. (19 मई, 1822) रविवार को दण्डी घाट का निर्माण करवाया था।

परम वैरागी स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती के तप एवं विद्या की प्रसिद्धि सुनकर तरुण तपस्वी ने उनसे 1798 ई. के आरम्भ (सम्वत् 1855 वि.) में संन्यास-दीक्षा ली और स्वामी विरजानन्द सरस्वती नाम पाया। तब उत्तर भारत में संन्यास-दीक्षा के समय सभी संन्यास लेने वालों के हाथ में दण्ड (डण्डा) पकड़वाया जाता था। तीर्थ, आश्रम एवं सरस्वती परम्परा के संन्यासियों के अतिरिक्त शेष सभी संन्यासियों (भारती, पुरी, गिरि, पर्वत, सागर, वन तथा अरण्य) से उसी समय दण्ड छुड़वा दिया जाता था। इन तीनों को छूट थी कि वे चाहें तो शेष जीवन दण्ड धारण करें, न चाहें तो त्याग दें। स्वामी विरजानन्द ने दण्ड धारण किया अतः दण्डी कहलाए। यूँ तो स्वामी पूर्णानन्द के किशन चतुर्वेदी (संन्यस्त कृष्णानन्द), शिवानन्द (1765-1865 ई.), नरहरि बाबा जिनकी मथुरा में कल्लूजी की धर्मशाला के पास समाधि बनी हुई है, खटखटा बाबा जिनके शिष्य ब्रह्मानन्द इटावा वालों ने इटावा में सरस्वती विद्या मन्दिर की स्थापना की, बूटी बाबा आदि अनेक शिष्य थे[10] परन्तु सर्वाधिक विख्यात प्रज्ञाचक्षु बाल ब्रह्मचारी दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती हुए।

संन्यास लेने के पश्चात् विरजानन्द दण्डी ने ज्ञानार्जन का विचार बनाया। स्वामी पूर्णानन्द उनके केवल संन्यास गुरु ही नहीं थे; अपितु कुछ अंश में विद्यागुरु भी थे। शास्त्रज्ञान के लिए व्याकरण पर अधिकार आवश्यक था। अतः

विरजानन्द दण्डी ने स्वगुरु के पास रहकर व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया; सिद्धान्तकौमुदी पढ़ी तथा कुछ अष्टाध्यायी भी कण्ठस्थ की। अष्टाध्यायी के प्रति दण्डीजी के हृदय में यहाँ से ही श्रद्धा जागृत हुई। ब्रह्मचर्य-साधना तथा गायत्री-जप के कारण उनकी मेधा-बुद्धि विकसित हो चुकी थी। उन दिनों उनकी काव्य-प्रतिभा जाग उठी और उन्होंने रामचरित सम्बन्धी कई श्लोक रचे।

स्वामी विरजानन्द दण्डी ने हरिद्वार निवास के समय एक ब्राह्मण से वरदराज रचित मध्यकौमुदी षड्लिंग पर्यन्त पढ़ी। वे नियमपूर्वक कौमुदी की आवृत्ति सुनते थे। यहाँ रहते हुए उन्होंने कौमुदी कण्ठस्थ कर ली। स्वयं न पढ़ सकने के कारण नेत्रहीन विरजानन्द को शास्त्राध्ययन के लिए दूसरे व्यक्ति की सहायता लेनी पड़ती थी। पूर्ण एकाग्रचित्त होकर अन्य विद्वान् से सुनकर अपनी तीक्ष्ण स्मरणशक्ति से उसे कण्ठस्थ कर लेते और फिर उस पर मनन-चिन्तन करते रहते। नेत्रहीनता के कारण बाह्य पदार्थों के रंग-रूप का आकर्षण सम्भव ही न था। दीर्घकाल तक एकनिष्ठ हो किए गए गायत्री-जप तथा ब्रह्मचर्य के प्रभाव ने उनकी चित्त की एकाग्रता और बढ़ा दी थी। इससे स्मरणशक्ति तेज हो गई थी। किसी श्लोक अथवा पाठ को एक-दो बार सुनकर याद कर लेते थे। वे वस्तुतः श्रुतिधर थे।

यहाँ दण्डीजी ने निज अध्ययन के साथ-साथ विद्यार्थियों को संस्कृत तथा मध्यकौमुदी पढ़ाना आरम्भ कर दिया। भविष्य में अध्ययन-अध्यापन का यह क्रम सभी स्थानों पर चलता रहा। अध्ययन किया गया विषय अध्यापन तथा मनन से अधिक स्पष्ट हो जाता था तथा चित्त में दृढ़ भी। दण्डी विरजानन्द ने हरिद्वार में लगभग तीन वर्ष व्याकरण ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ने दण्डीजी को कौमुदी पढ़ाकर काशी में महाभाष्य[11] पढ़ने के लिए प्रेरित किया। गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर विरजानन्द एक छात्र के साथ अगले ही दिन हरिद्वार से चल पड़े।

हरिद्वार से चलकर स्वामी विरजानन्द कुछ समय कनखल रहे। यहाँ भी किसी की सहायता से सिद्धान्तकौमुदी पर चिन्तन-मनन करते रहे तथा विद्यार्थियों को पढ़ाते रहे। कनखल में कुछ पण्डितों से उनका कनखल शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार-विमर्श एवं शास्त्रार्थ हुआ। दण्डीजी ने निर्वचन किया —

को न खलस्तरति यत्र स कनखलो नाम स्वर्णदीप्रान्तस्थो ग्रामः

अर्थात् कौन नहीं खल तरता है जहाँ, वह कनखल नामक स्वर्-नदी (गंगा) के

प्रान्त में स्थित ग्राम।

दण्डीजी की योग्यता से प्रभावित होकर यहाँ के पण्डितों ने उनका यथेष्ट आदर-सत्कार किया तथा उन्हें कनखल ही रोकना चाहा परन्तु वे वहाँ अधिक समय न रुके और आगे चल पड़े।

हरिद्वार से प्रारम्भ हुई इस पदयात्रा का मुख्य उद्देश्य विद्यानगरी काशी में तथा अन्यत्र विद्वानों से विद्यालाभ करना था। इसी हेतु काशी जाने की प्रेरणा उन्हें स्वगुरु स्वामी पूर्णानन्द से मिली थी। यही वचन देकर दण्डी जी हरिद्वार से चले थे।[12क] तत्कालीन साधु एवं पण्डित प्रायः गंगातट पर बसे विभिन्न नगरों में रहते थे। अतः भागीरथी (गंगा) के तट के साथ-साथ भ्रमण ज्ञानोपार्जन में सहायक था। साथ ही साधु-महात्माओं के सम्पर्क से धर्मलाभ होता था। अतः प्रायः साधु गंगा तट के साथ-साथ देशाटन करते थे। स्वामी विरजानन्द ने भी गंगा के किनारे-किनारे भ्रमण किया परन्तु गंगा-परिक्रमा को उनका एक प्रमुख उद्देश्य मानने का कोई प्रमाण नहीं है। पण्डित लेखराम तथा पण्डित मुकुन्ददेव ने ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया परन्तु भीमसेन शास्त्री ने अपनी कल्पना के आधार पर यहाँ तक लिख दिया -- "वे सम्भवतः कलकत्ते से गंगासागर जाकर गंगा के ऊपर तटानुतट हरद्वार को चल पड़े।"[13क] यह कल्पना पूर्णतया निराधार है पर गंगा के प्रति सम्मान का भाव हो सकता है।

गंगा-किनारे स्थित कई स्थानों में भ्रमण करते हुए दण्डी विरजानन्द लगभग एक वर्ष में काशी पहुँचे। वे प्रायः कम चलते थे और कई बार कई दिन चलते भी नहीं थे। पदयात्रा में अध्ययन तथा अध्यापन साथ- साथ चलता रहा। किसी से पञ्चदशी[14] आदि पढ़ी तो किसी को कौमुदी आदि व्याकरण पढ़ा दिया। मार्ग में उन्हें जो नए-नए विद्यार्थी मिलते, वे उन्हें दो-चार कोस काशी की ओर पहुँचा देते थे। इस यात्रा में भी वार्तालाप पूर्ववत् संस्कृत में ही होता था। उन्हें संस्कृत सहज उपस्थित थी।

मार्ग में दण्डी जी कहाँ-कहाँ ठहरे, किसे-किसे मिले, क्या-क्या कष्ट उठाए -- कुछ भी ज्ञात नहीं। हाँ, भीमसेन शास्त्री के अनुसार वे सोरों अवश्य ठहरे थे[13ख] परन्तु इस कथन का कोई पुष्ट आधार नहीं है।[15] यूं कोई भी यात्री अपनी लम्बी पदयात्रा में अनेक स्थानों पर रात काटता है और विश्राम करता है। निरन्तर अहर्निश तो कोई भी चलने में समर्थ नहीं है। अतः दण्डीजी काशी जाते समय क्या यहाँ रुके थे -- वह त्रिकालदर्शी सर्वान्तर्यामी जगन्नियन्ता प्रभु

ही जानता है। पर वे तट से चार कोस दूर सोरों क्यों जाते, तटस्थ गढ़ियाघाट पर ही रात काट लेते।

दण्डी विरजानन्द 1800 ई. के अवसान (सम्वत् 1857 का उत्तरार्द्ध) पर काशी पधारे। तब उनकी आयु इक्कीस वर्ष थी। वे वहाँ एक संन्यासी के आश्रम में ठहरे। भिक्षा मांगने तो कहीं जाते ही नहीं थे, अत: दो-तीन दिन उन्हें निराहार ही रहना पड़ा। तत्पश्चात् उनके पड़ाव पर ही भोजन मिलने लग गया।

काशी में विरजानन्द अध्ययनार्थ विभिन्न स्थलों पर कई पण्डितों के पास जाते थे। यहाँ उन्होंने पूर्वोल्लिखित व्याकरण-ग्रन्थों के अतिरिक्त मनोरमा,[16] शेखर,[17] न्याय, मीमांसा[18] और वेदान्त ग्रन्थ पढ़े। दण्डीजी की मेधा तीव्र तथा स्मरणशक्ति अनुपम एवं अद्भुत थी। अत: किसी भी ग्रन्थ को तुरन्त हृदयंगम कर लेते थे। महाभाष्य पढ़ने की इच्छा लेकर इस नगरी में पधारे दण्डीजी को छह-सात महीने के अथक प्रयास से महाभाष्य का हस्तलेख उपलब्ध हुआ, वह भी पूर्णतया अशुद्ध। उस समय महाभाष्य तथा अष्टाध्यायी सहज प्राप्य नहीं थे। दशग्रन्थी ऋग्वेदियों[19] के घर में ही कुछ शुद्ध कुछ अशुद्ध अष्टाध्यायी पढ़ी जाती थी। वे भी इस ग्रन्थ को किसी को दिखाते नहीं थे। तब पण्डितों का सारा श्रम कौमुदी के अध्यापन पर लगता था। अष्टाध्यायी सहज उपलब्ध न होने के कारण उन दिनों कौमुदी पर अध्याय, पाद व सूत्र सम्बन्धी अंक भी नहीं लिखे जाते थे। तब अष्टाध्यायी की शुद्ध प्रति प्राप्त करना अति दुष्कर था। इस प्रसंग में दण्डीजी अपने शिष्यों को कहा करते थे कि पूर्ण पण्डित ही किसी पुस्तक को शुद्ध कर सकता है। उन दिनों महाभाष्य में केवल नवाह्निक तथा अङ्गाधिकार[20] ही पढ़े जाते थे, अत: दण्डीजी ने भी इतना ही पढ़ा होगा। यह निश्चित है कि काशी रहते हुए उन्होंने न सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पढ़ी थी, न ही सम्पूर्ण महाभाष्य।

काशी वास के समय दण्डीजी को विद्या प्रदान करने में कौन-कौन सहयोगी हुए — इसकी विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। पण्डित विद्याधर से उन्होंने अवश्य पढ़ा था । काशीस्थ कई पण्डित बहुत संकीर्ण थे। ईर्ष्यालु पण्डितों ने पण्डित विद्याधर को दण्डीजी को पढ़ाने से रोकना चाहा परन्तु पण्डितजी स्वामी विरजानन्द से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने रोकने पर भी पढ़ाना बन्द न किया।

दण्डीजी ने अलवर-नरेश विनयसिंह को पढ़ाने के लिए अलवर रहते हुए शब्दबोध पुस्तक लिखी थी। उस पुस्तक के अन्त में उन्होंने गौरीशंकर को निम्नलिखित शब्दों में गुरु घोषित किया है —

इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगौरीशंकरशिष्य-
श्रीविरजानन्दकृतः शब्दबोधो नाम व्याकरणसंक्षेपसंग्रहः ॥

अर्थात् श्रीमान् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री गौरीशंकर के शिष्य श्री विरजानन्द द्वारा रचित शब्दबोध नामक व्याकरण संक्षेप संग्रह समाप्त हुआ।

आर्षयुग प्रवृत्त होने पर शब्देन्दुशेखर के खण्डन में 1859 ई. (सम्वत् 1916 वि.) में लिखे वाक्य-मीमांसा के मुख्य पृष्ठ पर अंकित है:

दण्डीजी विरचित
वाक्य-मीमांसा
सं. १९१६
भारद्वाजगोत्रोत्पन्नस्य नारायणदत्तसूनोः गौरीशंकरशिष्यस्य
विरजानन्दस्वामिनः कृतिः।

अर्थात् भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न नारायणदत्त के पुत्र तथा गौरीशंकर के शिष्य स्वामी विरजानन्द की कृति।

जिन गौरीशंकर को दण्डीजी ने गुरु स्वीकार किया — वे कौन सज्जन थे, कहाँ रहते थे, उनसे कब और क्या पढ़ा — इस सम्बन्ध में किसी इतिहासकार अथवा जीवनी लेखक को कुछ जानकारी उपलब्ध नहीं हुई। पण्डित लेखराम आर्य मुसाफ़िर को ये पुस्तकें दृष्टिगोचर न हुईं, अतः वे गौरीशंकर की चर्चा करने में असमर्थ रहे। बलदेव उपाध्याय ने 'काशी की पाण्डित्य परम्परा' नामक अपनी पुस्तक में 1200 से 1950 ई. तक के काशीस्थ पण्डितों का विवरण लिखा है पर उसमें गौरीशंकर की कोई चर्चा नहीं है।

दण्डी विरजानन्द के लिए पठन-पाठन सदा परस्पर जुड़े रहे, अतः काशी पहुँचते ही विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ कर दिया था। एक अल्पवयस्क अन्धा संन्यासी पढ़ाता है और वह भी काशी में। इस हेतु विद्वान् तथा विद्यार्थी सभी विस्मित थे। कोई-कोई उन्हें देखने आने लगा, कोई उनकी विद्या की थाह लेने और कोई उन्हें पढ़ाते हुए देखने। इस तरह धीरे-धीरे शिष्य संख्या बढ़ने लगी। सिद्धान्तकौमुदी उन्हें काशी आने से पहले ही कण्ठस्थ थी। जिस पठित-अपठित ग्रन्थ पर चर्चा होती, वे वही पढ़ा देते थे। उनकी अध्यापन-शैली काशीस्थ पण्डितों की शैली से कुछ भिन्न थी, अतः सभी पाठशालाओं,

मठों, डेरों एवं पण्डित-गृहों में तुरन्त चर्चा का विषय बन गए।

जिज्ञासु विरजानन्द काशी के पण्डितों से विचार-विमर्श करते समय कई बार उन्हें अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य से जुड़े व्याकरण विषयक अपने प्रश्नों से निरुत्तर कर देते थे, जैसे— एक पण्डित से उन्होंने प्रश्न किया — **पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्** [21] इस परिभाषा के जिस कौमुदी से उदाहरण उद्धृत किए गए हैं, उससे पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती ग्रन्थ (विधियों) से भिन्न विधियों को जानते हो?

उन्होंने एक अन्य पण्डित से पूछा — **हलन्त्यम्** सूत्र[22] में दो पद हैं पर इसकी वृत्ति (अर्थ) **उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यात्** में चार पद हैं। इन दो पदों की अनुवृत्ति किस सूत्र से आई है? क्या इस प्रकार अन्य सूत्रों की अनुवृत्ति के मूल सूत्र भी बता सकते हो?

विरजानन्द दण्डी के ऐसे प्रश्नों की सर्वत्र चर्चा होने लगी। उनकी विद्वत्ता, व्याकरण-ज्ञान तथा शास्त्रविषयक अपूर्व सूझ की खूब प्रसिद्धि हुई। उन्हें तीस वर्ष से कम आयु में ही काशी के प्रमुख पण्डितों में चौथे अथवा पाँचवें स्थान पर गिना जाने लगा।[12ख] वे इस विद्यानगरी में प्रज्ञाचक्षु स्वामी की उपाधि से विभूषित हुए। अब उन्हें पण्डित-सभाओं में आने-जाने के लिए पालकी-व्यय तथा पर्याप्त दक्षिणा मिलने लगी। उन्हें जो कुछ भेंट होता, वे उसे अपने शिष्यों में बाँट देते थे।

काशी में कई वर्ष ठहरकर प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी ने गया के लिए पैदल प्रस्थान किया।[23] अति श्रम से प्राप्त कुछ अलभ्य पुस्तकों की गठड़ी साथ थी। अतः भार उठाने के लिए एक व्यक्ति साथ ले लिया।[24] उन दिनों देश में घोर अराजकता थी। मार्ग में कुछ लुटेरों ने उन्हें घेरकर पकड़ लिया और उन्हें सताने लगे। दण्डीजी संस्कृत में ही बोलते थे। बहुतेरा कहा कि उसके पास केवल पुस्तकें हैं, धन नहीं है परन्तु लुटेरों ने पीछा न छोड़ा। अन्ततः दण्डीजी ने सहायतार्थ संस्कृत में ऊँचे स्वर में बोलना तथा शोर मचाना शुरू किया। संयोग से समीप ही ग्वालियर के कोई सम्भ्रान्त सामन्त अपने सशस्त्र सेवकों तथा एक पण्डित के साथ ठहरे हुए थे। उन्होंने चीत्कार सुनकर अपने सशस्त्र सेवक भेजे, जिनकी ललकार सुनते ही लुटेरे भाग उठे। शस्त्रधारियों ने साधु का परिचय पूछा। प्रज्ञाचक्षु ने संस्कृत में उत्तर दिया। सेवक कुछ समझ न पाए। तब सामन्त ने अपना पण्डित सहायतार्थ भेजा। पण्डितजी उनके साथ

वार्तालाप से अति प्रभावित हुए तथा स्वामीजी को सादर अपने साथ डेरे पर ले आए। राहजनों से दुखी नेत्रहीन पथिक एक महाविद्वान् संन्यासी है — यह जानकर सामन्त ने उन्हें अपने पास ठहरने का आग्रह किया। स्वामीजी पाँच दिन वहाँ ठहरे रहे। उनका श्रद्धापूर्वक आतिथ्य किया गया। दण्डीजी ने छठे दिन प्रस्थान किया और गया पधारे।

प्रज्ञाचक्षु स्वामी गया में एक वर्ष या इससे कुछ अधिक समय ठहरे। यहाँ उन्होंने वेदान्त-ग्रन्थों का अध्ययन किया। पूर्ववत् अध्ययन के साथ अध्यापन कार्य भी चलता रहा। मुकुन्ददेव के अनुसार यहाँ उन्होंने श्राद्धादि कार्य किए[25] परन्तु इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।[26]

दण्डी संन्यासी गया से कोलकाता (पुराना नाम कलकत्ता) के लिए चल पड़े। कोलकाता तब ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासित बंगाल प्रान्त की राजधानी थी।[27] यह नगरी तब संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानों के लिए प्रसिद्ध थी। कोलकाता में उन्होंने साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द, काव्यप्रकाश, रसगंगाधर आदि काव्य शास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन किया।[28] दर्शन, आयुर्वेद, संगीत,[29] वीणा-वादन,[29] योगासनों तथा कुछ यौगिक क्रियाओं में भी कुशलता प्राप्त की। फ़ारसी में अच्छी योग्यता अर्जित की। शतरंज के कुशल खिलाड़ी बने। यहाँ रहते हुए उन्होंने विभिन्न यन्त्रालयों के मुद्रित पुस्तक सूचीपत्र मंगवाए। एक विद्यार्थी द्वारा उन्हें पढ़वाकर दण्डी जी को विश्वास हो गया कि उन्होंने पढ़ने योग्य सभी पुस्तकें पढ़ ली हैं और अब कुछ ग्रन्थों पर केवल विचार करना शेष है।

काशी में ही मूर्धन्य विद्वानों में गिने जाने वाले दण्डीजी को कोलकाता में अपार वैदुष्य के लिए बहुत सम्मान मिला। पर्याप्त संख्या में छात्र शास्त्र पढ़ने आते रहे। कई उच्चकोटि के विद्वान् उनके पास विभिन्न विषयों की मीमांसा करने आते थे। अनेक उच्च पदासीन व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई। गुणग्राही सज्जनों ने यहाँ उनके ठहरने, आने-जाने आदि की सुव्यवस्था की।

प्रज्ञाचक्षु दण्डी संन्यासी नेत्रहीनों पर कटाक्ष को भद्रता नहीं मानते थे। कवित्व अभिमानी लोलिम्बराज स्वरचित वैद्यजीवन[30] में लिखते हैं —

येषां न चेतो ललनासु लग्नं मग्नं न साहित्यसुधासमुद्रे।
ज्ञास्यन्ति ते किं मम हा प्रयासानन्धा इव वारवधूविलासान्॥ 1.6॥

अर्थात् 'जिनका चित्त ललनाओं में नहीं लगा और जो साहित्य सुधा-सागर में मग्न नहीं हुआ, दुःख है वे मेरे प्रयासों का आनन्द उसी तरह न ले सकेंगे जिस

तरह अन्धा वैश्याओं के हावभाव, कटाक्ष आदि अंग चेष्टाओं को नहीं जान सकता।' इस तुलना में शालीनता का अभाव है।

लोलिम्बराज ने फिर लिखा —

औषधं मूढवैद्यानां त्यजन्तु ज्वरपीडिताः।
परसंसर्गसंसक्तकलत्रमिव साधवः ॥ 1.9 ॥

अर्थात् 'ज्वरपीड़ितों को मूर्ख वैद्य की औषध उसी प्रकार छोड़ देनी चाहिए जैसे भद्रपुरुष पर-पुरुषसंसक्त स्त्री को छोड़ देते हैं।'

लोलिम्बराज की व्याकरण अनभिज्ञता प्रकट करते हुए दण्डीजी ने कहा कि उसके श्लोक में **मूढवैद्यानाम्** का प्रयोग हुआ है। **कुत्सितानि कुत्सनैः** (अष्टाध्यायी, 2.1.52) के अनुसार **वैद्यमूढानाम्** होना चाहिए।[31]

कोलकाता में धन संग्रह की पर्याप्त सम्भावनाएँ थीं पर यह उनकी रुचि का विषय नहीं था। अतः यहाँ उन्हें चाहे कितना भी सम्मान मिला पर वे कुछ वर्ष ही ठहरे। कई उदार सज्जनों ने स्थान, सवारी तथा सेवकादि की व्यवस्था कर उन्हें कोलकाता रोकना चाहा परन्तु विरक्त दण्डी जी विद्योपार्जन का प्रयोजन सिद्ध होते ही एक रात वहाँ से चल पड़े।[32] चलते-चलते सोरों पहुँचकर विश्रान्त पर डेरा लगा लिया। इस परिभ्रमण काल में दण्डीजी कब कहाँ पहुँचे, वहाँ किस-किस स्थान पर रहे, कितना-कितना समय ठहरे, किस-किस पण्डित से क्या-क्या पढ़ा, किसे-किसे पढ़ाया -- कुछ भी सुनिश्चित नहीं है।[33]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. स्वामी वेदानन्द ने स्वामी विरजानन्द के जीवन-चरित में पृष्ठ 53 पर लिखा है — ''विरजानन्द! तुम्हारा यहाँ जो कुछ होना था, हो चुका ...।'' अभी तपस्वी ब्रह्मचारी ने न संन्यास लिया था, न ही विरजानन्द नाम पाया था। अतः स्वप्न में 'विरजानन्द' शब्द सुनाई देना सही नहीं है। मुकुन्ददेव ने इस स्वप्न का उल्लेख नहीं किया।

2. पण्डित लेखराम तथा मुकुन्ददेव स्वामी पूर्णानन्द का स्थान हरिद्वार बताते हैं। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने स्वामीजी का नाम पूर्णाश्रम और स्थान कनखल लिखा है, जो सही नहीं है। यदि वे पूर्णाश्रम होते तो तात्कालिक संन्यासाश्रम की व्यवस्था के अनुसार उनके शिष्य का नाम विरजानन्द न होकर विरजाश्रम होता। अन्य सभी लेखकों ने पूर्णानन्द ही लिखा है। वे शंकराचार्य प्रवर्त्तित दण्डी संन्यासी वर्ग के थे। विचित्र संयोग है कि स्वामी विरजानन्द तथा स्वामी दयानन्द दोनों के संन्यास गुरुओं का नाम स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती था परन्तु दोनों भिन्न व्यक्ति थे। दयानन्द के संन्यास दीक्षागुरु महाराष्ट्र के पूर्णानन्द थे। इन हरिद्वारीय पूर्णानन्द

से स्वामी दयानन्द की भेंट सम्वत् 1912 वि. (1855 ई.) के आस-पास हुई थी।

3. स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती 1857 ई. की क्रान्ति के समय एक सौ दस वर्ष के थे, अतः उनका जन्म वर्ष 1747 ई. प्रतीत होता है।

4. पण्डित लेखराम ने स्वामी पूर्णानन्द को उत्तरदेशीय पहाड़ के निवासी लिखा है परन्तु मुकुन्ददेव, भीमसेन शास्त्री, भवानीलाल भारतीय आदि उन्हें हरियाणा निवासी मानते हैं।

5. वेदवाणी, मार्च 1960, पृष्ठ 11 टिप्पणी 9; सत्यकेतु विद्यालंकार ने पूर्णानन्द दण्डी के गुरु का नाम ओमानन्द लिखा है (आर्यसमाज का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 696-700)।

6. रामचन्द्र दीक्षित रचित प्रक्रियाकौमुदी (रचना काल पन्द्रहवीं ई. शताब्दी का पूर्वार्द्ध) की परम्परा में भट्टोजि दीक्षित विरचित सिद्धान्तकौमुदी एक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ है। सिद्धान्तकौमुदी को बहुधा कौमुदी ही कहते हैं। इसका रचना काल 1640 ई. के लगभग है। यद्यपि इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के सूत्रों की सम्पूर्ण व्याख्या है परन्तु अष्टाध्यायी के पौर्वापर्ययुक्त विशिष्ट सूत्रक्रम को भंग कर दिया गया है, जिससे उसकी निहित वैज्ञानिकता खण्डित हो गई है। इसीलिए बाद में स्वामी विरजानन्द ने कौमुदी परम्परा को त्याज्य घोषित किया। स्वामी दयानन्द कौमुदी को 'कुमति' कहा करते थे।

7. महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरणक्षेत्र में मानव-मस्तिष्क का अपूर्व आविष्कार है। इसे शब्दानुशासन, पाणिनीयाष्टक अथवा वृत्तिसूत्र भी कहते हैं। इसके आठ अध्यायों के बत्तीस पादों में 3979 सूत्र हैं। अष्टाध्यायी में सूत्रों के क्रम का विशेष महत्त्व है। एस.के. बेल्वेलकर ने पाणिनि का समय 650 ई. पूर्व माना है। वासुदेवशरण अग्रवाल ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मानते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक पाणिनि का स्थितिकाल महाभारत के युद्ध से 200 वर्ष पश्चात् अर्थात् लगभग 2900 विक्रम पूर्व आंकते हैं। उनका जन्म वर्तमान पाकिस्तान में सिन्धु नदी के तट पर अटक के पश्चिमोत्तर में शलातुर (शालदित्ता) ग्राम में हुआ था, अतः उनका दूसरा नाम शालातुरीय है।

8. यह शंकराचार्य की कृति है।

9. पण्डित गोविन्द चतुर्वेदी के पिता नवनीत कविवर ने स्वामी विरजानन्द से विद्या ग्रहण की थी। नवनीत के पितामह किशन महलवाले स्वामी पूर्णानन्द के शिष्य थे। पण्डित किशनसिद्ध का निन्यानवें वर्ष की आयु में 1873 ई. में स्वर्गवास हुआ था। मथुरा में दिसम्बर 1959 में आयोजित दयानन्द दीक्षाशताब्दी में पण्डित गोविन्द उपस्थित थे। उनके एतद् विषयक संस्मरणों पर आधारित पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक का एक महत्त्वपूर्ण लेख मार्च 1960 में वेदवाणी तथा टंकारा पत्रिका में क्रमशः पृष्ठ 9-13 तथा पृष्ठ 9-14 पर प्रकाशित हुआ था।

10. वेदवाणी, मार्च 1960, पृष्ठ 11; ये सभी शिष्य मथुरावासी थे। अन्य शिष्यों की जानकारी प्राप्त नहीं है।

11. पतंजलि का कालजयी ग्रन्थ महाभाष्य पाणिनि की परम्परा में वररुचि कात्यायन के वार्त्तिकों के बाद अष्टाध्यायी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ माना जाता है। युधिष्ठिर मीमांसक महाभाष्यकार पतंजलि का काल 2000 विक्रम पूर्व मानते हैं (द्रष्टव्यः संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 375)।

12. मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, (क) पृष्ठ 16, (ख) पृष्ठ 20

13. भीमसेन शास्त्री, विरजानन्द-प्रकाश, (क) पृष्ठ 20, (ख) पृष्ठ 12; देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ऐसा नहीं मानते (द्रष्टव्य: विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 25 पाद टिप्पणी)।

14. शांकर वेदान्त का यह ग्रन्थ स्वामी शंकराचार्य के अनुयायी विद्यारण्य स्वामी की 1350 ई. की रचना है। उन दिनों संन्यासियों में इसका बहुत प्रचलन था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे आर्षग्रन्थ स्वीकार नहीं किया, अत: उन्होंने वैशाख 1920 वि. में आगरा में इसकी कथा बन्द कर दी थी।

15. इस विषय में लेखक का मत एवं विश्लेषण आगे पृष्ठ 23-24 पर अंकित है।

16. मनोरमा अथवा प्रौढ़ मनोरमा सिद्धान्तकौमुदी पर भट्टोजि दीक्षित द्वारा रचित व्याख्या-ग्रन्थ है। नागेश भट्ट (1671-1753 ई.) ने अपने गुरु हरि दीक्षित के नाम से प्रौढ़ मनोरमा पर शब्दरत्न नामक व्याख्या लिखी थी।

17. शेखरादि नाम से परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर और लघुशब्देन्दुशेखर का बोध होता है। परिभाषेन्दुशेखर पाणिनि व्याकरण के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित परिभाषाओं का संग्रह एवं संक्षिप्त व्याख्या है। शब्देन्दुशेखर भी इन परिभाषाओं का संक्षित व्याख्या-ग्रन्थ है। बृहच्छब्देन्दुशेखर और लघुशब्देन्दुशेखर नागेश की सिद्धान्तकौमुदी पर लिखी दो टीकाएँ हैं।

18. मीमांसा छह आस्तिक दर्शनों में से एक है। इसकी वेद में आस्था है और उसे अपौरुषेय मानता है। कर्मप्रधान मीमांसा को पूर्व मीमांसा तथा ज्ञान प्रधान को उत्तर मीमांसा नाम से जाना जाता है। सामान्यत: मीमांसा से अभिप्राय पूर्व मीमांसा ही लिया जाता है। उत्तर मीमांसा वेदान्त है।

19. दशग्रन्थी ऋग्वेदी ब्राह्मण निम्नलिखित ग्रन्थों का अध्ययन करते थे —

संहिता, पदपाठ, क्रमपाठ, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, आश्वलायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, अष्टाध्यायी, निरुक्त-निघण्टु, वेदांग ज्योतिष

20. महाभाष्य के प्रथम अध्याय का प्रथम पाद नौ आह्निकों में विभक्त है, इसे नवाह्निक कहते हैं। नवाह्निक का शाब्दिक अर्थ है जो नौ दिन में पढ़ा जा सके। अङ्गाधिकार अष्टाध्यायी के छठे अध्याय के चतुर्थ पाद से प्रारम्भ करके सप्तम अध्याय की समाप्ति तक का भाग है। पतंजलि ने महाभाष्य में इसका भाष्य इसी नाम से किया है।

21. परिभाषेन्दुशेखर, 60

22. यह कौमुदी क्रम में प्रथम सूत्र है, जबकि अष्टाध्यायी क्रम में 1.3.3 संख्यक सूत्र है।

23. पण्डित लेखराम के अनुसार गया के लिए प्रस्थान करते समय दण्डी जी की आयु बाईस वर्ष थी। यह लेख सही नहीं है।

24. मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, पृष्ठ 22; भीमसेन, विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 15; देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार दण्डी जी अकेले थे (विरजानन्द चरित, पृष्ठ 22)।

25. मुकुन्ददेव, वही, पृष्ठ 23; भीमसेन शास्त्री, विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 16

26. गया में जालन्धर क्षेत्र के पुरोहित रामनाथ तथा देवनाथ मेहरवाड़ दढ़ीवाले से लेखक को मई 2001 में पता चला है कि वहाँ 1850 ई. से पूर्व का इस क्षेत्र का कोई लिखित विवरण नहीं है। अतः मुकुन्ददेव तथा भीमसेन शास्त्री के कथन की पुष्टि नहीं की जा सकी।

27. पण्डित लेखराम ने भी तब कोलकाता को बंगाल की राजधानी लिखा है। इसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 1698 ई. में अपने अधिकार में ले लिया था। बाद में यह नगर 1857 ई. से 1912 ई. तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी था।

28. आचार्य मम्मट की कृति काव्यप्रकाश के दस उल्लासों में नाट्य के अतिरिक्त काव्यशास्त्र की समस्त विधाओं का विवेचन है। साहित्य-दर्पण के दस अध्यायों में नाट्य सहित काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का निरूपण है। इसके रचयिता कलिंग देश निवासी विश्वनाथ वहाँ के राजा नरसिंहदेव (1279-1306 ई.) के आश्रित कवि थे। अप्पय दीक्षित (1551-1623 ई.) ने कुवलयानन्द में 123 अर्थालंकारों का विस्तृत विवेचन किया है। पण्डितराज जगन्नाथ (1590-1665 ई.) ने मम्मट के काव्यप्रकाश में दोष देखकर अत्यन्त नवीन एवं दोषमुक्त रचना के प्रयास में रसगंगाधर का प्रणयन किया। उन्होंने इस ग्रन्थ में कुवलयानन्द का भी खण्डन किया है। आन्ध्रप्रदेश के मुगुंज ग्राम में जन्में तथा शाहजहाँ के आश्रित इस कवि की युवावस्था दिल्ली में व्यतीत हुई। वे 1627 ई. के बाद उदयपुर नरेश जगतसिंह के यहाँ चले गए थे। पुनः शाहजहाँ ने उन्हें दिल्ली बुला लिया था।

29. मुकुन्ददेव प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने दण्डी जी को सितारवादन एवं संगीत में अति निपुण बताया है (दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 113)। **लगता है कि ऋषि दयानन्द को संगीत का ज्ञान भी दण्डी जी से मिला था।**

30. वैद्यजीवन सतरहवीं शती का आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें रोगों तथा औषधियों का वर्णन ललित, मनोहर, सरस व काव्यात्मक शैली में किया गया है।

31. इस उदाहरण से लगता है कि अब तक दण्डी जी ने अष्टाध्यायी का कुछ अध्ययन अवश्य कर लिया था।

32. रात के समय यात्रा पर निकल पड़ने से लगता है कि ग्रीष्म ऋतु होगी।

33. इस प्रसंग में भीमसेन शास्त्री स्वयं स्वीकार करते हैं — ''और जो थोड़े संवत् हैं (यथा — काशी से गया-गमन, कलिकाता-निवास, सोरों के प्रथम निवास का आरम्भ), वे कल्पना पर आश्रित हैं। उनके लिए निश्चयात्मक सामग्री हमारे पास नहीं है'' (विरजानन्द-प्रकाश, प्राग्वचन, पृष्ठ 19)।

सोरों वास

सोरों उत्तरप्रदेश के एटा जिले की कासगंज तहसील में भव्य मन्दिरों का एक रमणीक स्थल है। यह नगर कभी गंगा के किनारे स्थित था। अब कई सदियों से गंग-धारा वहाँ से लगभग आठ किलोमीटर दूर हट गई है। किम्वदन्ती है कि यहाँ विष्णु ने वराहावतार धारण किया था। अतः विष्णु के माने गए चौबीस अवतारों में से इस एक अवतार की मूर्ति यहाँ के वराह मन्दिर में स्थापित है। इसीलिए गंगा के सान्निध्य में बसी यह नगरी वराहभूमि, शूकरभूमि, सौकरव अथवा सोरोंभूमि के नाम से प्रसिद्ध है। मथुरा, वृन्दावन, अलवर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि स्थानों से सोरों का गंगा-प्रवाह अधिक निकट है। न केवल इन क्षेत्रों के ही अपितु गुजरात, काठियावाड़ तक के धार्मिक जन गंगा-स्नान के लिए सोरों आते हैं। दण्डी जी के समय में सोरों का स्नान घाट गढ़ियाघाट था, जहाँ पचास-साठ मन्दिर तथा यात्रियों के लिए लगभग तीस बड़ी धर्मशालाएँ थीं।

कोलकाता से वापसी पर स्वामी विरजानन्द दण्डी ने सोरों काफी समय ठहरना क्यों उचित समझा? देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय इसका कारण सोरों का ''कोलाहल-शून्य पवित्र और प्रीतिप्रद स्थान'' होना विचारते हैं।[1] पर यदि यही मुख्य कारण होता तो वे न कनखल जैसा अत्यन्त निर्जन व एकान्त स्थान छोड़ते और न ही बाद में मथुरा में निवास करते। दण्डीजी ने अपनी पदयात्रा अथवा जीवनकाल में जो पड़ाव चुने — वे निष्प्रयोजन नहीं थे। अलवर के अतिरिक्त उनका अधिक समय ऋषिकेश, हरिद्वार, कनखल, काशी, गया, कोलकाता, सोरों तथा मथुरा में ही बीता। अलवर वे केवल संस्कृत पढ़ाने के लिए ही गए थे। शेष सभी वे पौराणिक तीर्थ हैं जहाँ उन दिनों कर्मकाण्ड के अतिरिक्त शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में व्यस्त जन्मना ब्राह्मण रहते थे। विद्यार्पित विरजानन्द सरस्वती के लिए पठन-पाठन, शास्त्रचर्चा तथा कालान्तर में व्याकरण विषयक शास्त्रार्थों के लिए ऐसे ही स्थल उपयुक्त थे जहाँ संस्कृतज्ञ ब्राह्मण रहते हों और ऐसे ब्राह्मणों का निवास बहुधा गंगा के किनारे इन स्थानों पर ही था। यहीं धार्मिक मेले लगते थे। काशी भारतवर्ष का एक अति प्राचीन विद्या-केन्द्र तथा सांस्कृतिक नगरी थी। मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण, लिंगपुराण, पद्मपुराण, अग्निपुराण, स्कन्दपुराण तथा नारदीयपुराण में क्रमशः 411, 226, 190, 170, 112, 15000 और 391 श्लोकों में काशी की स्तुति गाई गयी है।

कृष्ण-जन्मभूमि मथुरा छोटी काशी मानी जाती थी। तब यहाँ की हिन्दू जनसंख्या का लगभग बीस प्रतिशत ब्राह्मण थे। साल में नौ महीने यहाँ एक के बाद एक मेले लगते थे। इसके मन्दिर तथा घाट प्रतिदिन नए तीर्थयात्रियों के समूहों से भरे रहते थे। कोलकाता में शास्त्रों के अनेक विद्वान् थे। समय-समय पर यहाँ नई विचारधाराएँ पनपती रही हैं। यहीं कालान्तर में ब्रह्मसमाज स्थापित हुआ था। गया का महत्त्व भी किसी अन्य स्थान से कम नहीं था। सोरों क्षेत्र में बहुसंख्या में ब्राह्मण रहते थे। उन्नीसवीं सदी के अन्त में जिला बुलन्दशहर की हिन्दू जनसंख्या का आठवां भाग ब्राह्मण था।[2] एटा जिले के कुल ब्राह्मणों का एक-तिहाई कासगंज और सोरों में रहता था। सोरों परगना का प्रत्येक दूसरा हिन्दू ब्राह्मण था।[3] सोरों में ब्राह्मणों के अढ़ाई हजार घर थे।[4] इस प्रकार गंगा के किनारे पर ही अधिकतया सम्भ्रान्त हिन्दुओं का निवास था। किसी भी सुधारक एवं विद्वान् के लिए अपने चिन्तन की स्वीकार्यता हेतु उन्हें स्वमतावलम्बी बनाना आवश्यक था। दण्डीजी ने भी इसी ब्राह्मण वर्ग को सम्बोधित किया था। तब सोरों के हजारों ब्राह्मण संस्कृत से अनभिज्ञ और यज्ञोपवीत रहित थे। सन्ध्या तो पाँच भी नहीं जानते थे।[4] मूर्तिपूजा पर ही जोर था। इसलिए अध्ययन-अध्यापन के लिए भी यहाँ पर्याप्त सम्भावनाएँ थीं। अत: काशी और कोलकाता में रहने के पश्चात् सोरोंवास का निर्णय तर्क-संगत था।

दण्डी विरजानन्द का अब तक का यह सोरों में कौन-सा पड़ाव था? पहला, दूसरा अथवा तीसरा? भीमसेन शास्त्री के अनुसार दण्डीजी पहली बार हरिद्वार से काशी जाते समय, दूसरी बार कोलकाता से वापस हरिद्वार आते हुए और अब तीसरी बार हरिद्वार से यहाँ पधारे थे।[5] उनकी इस नितान्त भ्रान्त धारणा का कारण उनका हरिद्वार से गंगासागर और वहाँ से फिर हरिद्वार तक की गंगा-परिक्रमा की कल्पना है।

पण्डित चैनसुख शर्मा ने कासगंज से देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को लिखा था -- "विरजानन्द स्वामी हरिद्वार से गंगा-तट भ्रमण करते-करते गड़ियाघाट में आकर कुछ दिन रहे। वहाँ से सोरों आकर अंगदराम और पण्डित बुद्धसेन को कौमुदी आदि व्याकरण पढ़ाये। सोरों से कासगंज आकर कुछ दिन रहे। इसके पश्चात् कासगंज से सात कोस दूर पर महावट ग्राम में कुछ दिन ठहरे। अन्त में मथुरा की ओर चले गए। सुना है कि यह घटना सिपाही-विद्रोह (1857 ई.) से पहले की है।"[6क] देवेन्द्र बाबू इस लोकश्रुत विवरण को स्वीकार नहीं करते। वे स्पष्ट लिखते हैं — "इसके साथ हमारा दो बातों में मतभेद है। प्रथम तो हम इसे ठीक नहीं समझते कि विरजानन्द

हरिद्वार से सोरों आए थे क्योंकि हरिद्वार, कनखल छोड़कर और काशी आदि घूमकर वह सोरों आए थे; दूसरे यह ठीक है कि वह सोरों के पीछे मथुरा गये थे परन्तु पहले बार के नहीं बल्कि दूसरी बार के सोरोंवास के पीछे गये थे।'[6ख] देवेन्द्र बाबू की तरह पण्डित लेखराम तथा पण्डित मुकुन्ददेव भी दण्डीजी का कोलकाता से वापस आते समय सोरों ठहरने को उनका तब तक इस नगर में प्रथम वास मानते हैं। यही मत हरविलास शारदा, बावा छज्जूसिंह, स्वामी सत्यानन्द, लक्ष्मण आर्योपदेशक तथा स्वामी वेदानन्द आदि का है। यद्यपि भवानीलाल भारतीय दण्डीजी का गंगा-प्रदक्षिणा करते हुए हरिद्वार से गंगासागर तक भ्रमण, फिर वापसी पर काशी में निवास, गया के निकट डाकुओं से पीड़ित होना और सोरों आना लिखते हैं,[7] तो भी यह दण्डीजी का प्रथम वास ही ठहरता है। भीमसेन शास्त्री के अतिरिक्त किसी ने भी कोलकाता से हरिद्वार वापस पहुँचने तथा वहाँ स्वामी पूर्णानन्द से मिलने की कहीं कोई चर्चा नहीं की। अत: उपलब्ध जानकारी से यही पुष्ट होता है कि दण्डीजी का सोरों में यह प्रथम वास था और वह भी वापसी पर।

दण्डीजी का सोरों पधारने का काल निश्चित नहीं है। उस समय भी गंगा का प्रवाह सोरों से कुछ दूरी पर था। अत: उन्होंने गंगा किनारे गढ़ियाघाट पर डेरा डाला, फिर सम्भवत: सोरों में विश्रान्त पर चले गए।[8] यहाँ भी उन्होंने पठन-पाठन आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे उनके अध्ययन-अध्यापन की काशी की तरह यहाँ भी चर्चा होने लग गई। वे सारस्वत व कौमुदी आदि व्याकरण-ग्रन्थों पर निरन्तर चिन्तन-मनन करते रहते थे। अब तक उनका सारस्वत, कौमुदी आदि से कोई मतभेद नहीं था। अत: सोरों वास में अपने शिष्य बदरिया[9] के अंगदराम,[10] सोरों के बुद्धसेन आदि को पूर्ण श्रद्धापूर्वक कौमुदी, चन्द्रिका[11] आदि व्याकरण पढ़ाते रहे। अंगदराम पढ़ने के साथ-साथ स्वामी विरजानन्द की सेवा भी करते थे और ध्यान रखते थे कि उन्हें कोई असुविधा न हो।

सम्वत् 1889 वि. का वैशाख महीना चल रहा था। दण्डीजी एक दिन गढ़िया घाट पर स्नान के पश्चात् गंगा तट के निकट कम गहरे जल में खड़े शंकराचार्य विरचित विष्णुस्तोत्र[12] का पाठ कर रहे थे। तब संयोगवश अलवर नरेश महाराव राजा सवाई विनयसिंह[13] वहाँ उपस्थित थे। निर्मल जल में खड़े ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान मुखमण्डलयुक्त साधु के सुरीले मधुर कण्ठ से उत्कृष्ट विशुद्ध संस्कृतोच्चारण श्रवणकर अलवर नरेश ऐसे आकर्षित हुए कि वहीं खड़े रह गए। जब तक दण्डीजी स्तोत्रमाला की आवृत्ति करते रहे, तब तक राजा विनयसिंह मन्त्रमुग्ध

खड़े रसास्वादन करते रहे। राजा ने गढ़ियाघाट पर दण्डी जी की विद्वत्ता, तेजस्विता एवं त्याग के विषय में जैसा सुना था, उससे भी अधिक पाया। अत: जब पाठ समाप्त कर साधु अपने आश्रम की ओर चलने लगा तो अलवर नरेश ने निकट आकर अभिवादनोपरान्त निवेदन किया —

महाराज! कृपया मेरे साथ अलवर चलिए।

कौन हो तुम? — साधु ने पूछा।

अलवर नरेश विनयसिंह हूँ, महात्मन् — उत्तर मिला।

आप राजा हैं और मैं संन्यासी। आप राजकाज में व्यस्त, मैं पठन-पाठन में। मेरा आप से क्या सम्बन्ध? क्यों जाऊँ आप के साथ? ऐसा कह साधु ने अपने डेरे की राह ली।

यह उत्तर सुनकर विनयसिंह बहुत दुखी हुए परन्तु स्वामीजी को अलवर ले जाने की उनकी इच्छा इतनी बलवती हो चुकी थी कि वे स्वयं दण्डीजी के विश्राम-स्थल तक गए और बार-बार संस्कृत में अपना निवेदन दोहराया।[14] राजा विनयसिंह के विनयपूर्वक अनुरोध का दण्डीजी पर यथेष्ट प्रभाव हुआ। बोले — अच्छा, यदि आप प्रतिदिन हमसे संस्कृत पढ़ने के लिए उद्यत हों, तो मैं अलवर चल पड़ूँगा। राजा ने तुरन्त हाँ कर दी। दण्डी जी ने कहा कि यह अध्ययन नियमपूर्वक होना चाहिये। इस पर राजा ने 'ठीक है, महाराज' कहा तथा प्रतिदिन तीन घण्टे अध्ययन करने का वचन दिया। दण्डीजी ने कहा — जिस दिन आप पढ़ने के लिए समय नहीं निकालोगे, मैं उसी दिन अलवर छोड़कर चल पड़ूँगा। अलवर नरेश ने यह भी स्वीकार कर लिया। इन शर्तों पर दण्डीजी राजा विनयसिंह के साथ राजकीय सवारी में बैठकर अलवर चले गए।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 24; भीमसेन शास्त्री के अनुसार "उन्हें तो आत्मानुसन्धान के लिए एकान्त स्थान और उत्तम जलवायु की आवश्यकता थी और अपेक्षित थे विद्या-ज्ञान-प्रसारार्थ जिज्ञासु छात्र" (द्रष्टव्य : विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 19)।

2. H.R. Nevill, Bulandshar : a Gazetteer, being Vol.V of The District Gazetteers of the United Provinces of Agra and Oudh, Allahabad, 1903, p.74

3. E. R. Neave, Etah : a Gazetteer, being Vol. XII of The District Gazetteers of the United Provinces of Agra and Oudh, Allahabad. 1911. pp.78, 223

4. लेखराम आर्य मुसाफ़िर, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र (हिन्दी), पृष्ठ 117

5. भीमसेन शास्त्री, विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 22

6. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, (क) पृष्ठ 24 पाद टिप्पणी, (ख) पृष्ठ 25 पाद टिप्पणी

7. भवानीलाल भारतीय, नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 48

8. पण्डित लेखराम ने दण्डीजी का बगीचे में ठहरना लिखा है। तब लहरा तथा गढ़िया आस-पास दो गाँव थे। गढ़िया गंगा में समा चुका है। अब लहरा शेष है। गंगा लहरा से लगभग तीन किलोमीटर दूर है पर वर्षा ऋतु में लहरा में आ जाती है।

9. बूढ़ी गंगा के पश्चिम में बदरिया और पूर्व में सोरों है। बहुत पहले बूढ़ी गंगा ही गंगा थी। आजकल बदरिया तथा लहरा दोनों सोरों नगरपालिका के भाग हैं। सोरों निवासी गोस्वामी तुलसीदास की बदरिया में ससुराल थी।

10. अंगदराम (1813-1888 ई.) दण्डीजी के शिष्य एवं भक्त तथा व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनकी अपने क्षेत्र में बहुत प्रसिद्धि थी। वे 1868 ई. में स्वामी दयानन्द सरस्वती से शास्त्रार्थ में हारकर उनके अनुयायी बन गए थे।

11. चन्द्रिका से रामचन्द्राश्रम कृत सिद्धान्त चन्द्रिका अभिप्रेत है।

12. सभी जीवनी लेखकों ने विष्णुस्तोत्र का पाठ करना लिखा है परन्तु पण्डित मुकुन्ददेव गंगास्तोत्र पढ़कर महिम्न का पाठ करना बताते हैं। महिम्न अर्थात् शिव महिम्न स्तोत्र पुष्पदन्ताचार्य रचित शिव स्तुति का ग्रन्थ है।

13. अलवर रियासत की स्थापना 1772 ई. में प्रतापसिंह ने की थी। विनयसिंह (15 अक्तूबर, 1808 - 10 जुलाई, 1857 ई.) छह वर्ष की आयु में राजा बने और महाराव राजा सवाई विनयसिंह कहलाए। अंग्रेज़ी दस्तावेज़ में उनका नाम 'बनीसिंह' लिखा मिलता है। उनके सिक्कों पर एक ओर मुहम्मद बहादुर लिखा था। विनयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र महाराव राजा शिवदानसिंह ने 1857 से 1874 ई. तक राज किया।

14. अलवर राज्य के प्रधानमन्त्री पण्डित रूपनारायण के सम्पर्क में रहकर राजा विनयसिंह कुछ-कुछ संस्कृत समझना और बोलना सीख गए थे।

अलवर प्रवास

विरक्त सन्त दण्डीजी अलवर जाना क्यों मान गए? राजा विनयसिंह उन्हें अपने साथ क्यों ले गए? दोनों प्रश्न विचारणीय हैं। आरम्भ में दण्डीजी का अध्ययन प्रमुख लक्ष्य था और अध्यापन गौण। लगता है अब अध्यापन को वरीयता मिल गई थी। अब वे व्याकरण के अध्यापन में इतने समर्पित हो गए थे कि उन्हें संस्कृत पढ़ाने के लिए सोरों वास त्यागना भी स्वीकार हुआ। इतने ध्येयनिष्ठ गुरु कब-कब इस धरती को सुशोभित करते हैं? अलवर नरेश की संस्कृत-पठन में रुचि तो थी। उन्होंने अन्तःपुर की रानियों को भी संस्कृत पढ़वाई थी। भले ही स्वार्थी पण्डितों के जाल से बचने के लिए वे संस्कृत सीखना चाहते थे परन्तु स्वयं संस्कृत पढ़ने के उद्देश्य से दण्डीजी से अलवर चलने की प्रार्थना उन्होंने नहीं की थी। यह शर्त तो दण्डीजी ने लगाई थी। वस्तुतः राजा विनयसिंह विद्याप्रेमी तथा विद्वत्सेवी शासक थे। अलवर का अनुपम पुस्तकालय[1] उनके पुरुषार्थ एवं रुचि का साक्षी है। इसमें संस्कृत ही नहीं, अरबी-फ़ारसी के भी अमूल्य ग्रन्थ संग्रहीत थे। कुरान शरीफ़ की एक प्रति पर पचास हजार और गुलिस्तां पर दो लाख रुपये व्यय कोई विनयसिंह सदृश बिरला राजा ही कर सकता था। उन्होंने दिल्ली के आग़ा मिरजा नामक मुसलमान को एक-एक अक्षर का एक-एक रुपया देकर गुलिस्तां लिखवाई थी।[2] विभिन्न भाषाओं के विद्वान् , संगीताचार्य, चित्रकार आदि उनके दरबार की शोभा बढ़ा रहे थे। ख़ैराबाद (वर्तमान में पाकिस्तान का एक नगर) निवासी फ़ज़लहक़ को उस जमाने में तीन सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था। प्रधानमन्त्री पण्डित रूपनारायण, लक्ष्मण शास्त्री, शालिग्राम और शिवप्रसाद सरीखे विद्वान् उनकी सभा में विराजते थे। वे अलवर को विदुष्मती काशी की भाँति विदुष्मान् बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। इसीलिए उन्होंने तप, त्याग, पवित्रता की मूर्ति एवं विमल-बुद्धि-सम्पन्न असाधारण विद्वान् प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द सरस्वती को अलवर पधारने के लिए रज़ामन्द कर सफल मनोरथ होना चाहा।

दण्डीजी अंगदराम के साथ अलवर पधारे। पण्डित लेखराम ने अलवर आगमन की कोई तिथि नहीं लिखी। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की "धारणा यह है कि विरजानन्द सम्वत् १९०१ से कुछ पहिले ही अलवर में आये थे।"[3क]

इस प्रकार अलवर आगमन का काल 1844 ई. ठहरता है परन्तु हरविलास शारदा ने 1844 या 1845 ई. में तो अलवर छोड़ना लिखा है। भीमसेन शास्त्री ने अलवर गमन की तिथि वैशाख कृष्ण पक्ष सम्वत् 1889 (अर्थात् 1832 ई. के अप्रैल का उत्तरार्द्ध) मानी है परन्तु प्राग्वचन में अलवर गमन सम्वत् 1879 वैशाख बदी (1822 ई. के अप्रैल का उत्तरार्द्ध) लिख दिया।[4] दोनों में दस वर्ष का अन्तर है। कौन-सी तिथि सही मानी जाए? अलवर राजघराने के सोरों में पण्डा पार्वतीवल्लभ से लेखक को ज्ञात हुआ है कि राजा विनयसिंह वैशाख सम्वत् 1889 वि. को गंगा स्नान के लिए सोरों पधारे थे।[5] उस वर्ष दो चैत्र थे और वैशाख शुदि सप्तमी (तदनुसार 6 जून, 1832) को सोरों में गंगा जयंती का मेला था। अत: राजा विनयसिंह के साथ दण्डीजी का अलवर गमन जून 1832 में ही निश्चित होता है। दण्डीजी अलवर से भरतपुर गए थे। तब बलवन्तसिंह वहाँ के शासक थे। उनका शासनकाल 1835 से 1853 ई. तक था। उनका देहावसान 1853 ई. में हो गया था। दण्डीजी भरतपुर बलवन्तसिंह के सत्तासीन होने से पूर्व नहीं आए थे। इस प्रकार अलवर छोड़ने का काल तीन-चार वर्ष पश्चात् 1835-36 ई. ही संगत लगता है।

दण्डीजी कटरा में जगन्नाथ मन्दिर के निकट एक सुन्दर भवन में विराजमान हुए।[6] उनके लिए पुस्तकों आदि की व्यवस्था कर दी गई। ब्राह्मण मित्रसेन उनका पाचक नियुक्त हुआ। भोजन सामग्री राजभण्डार से आती थी। स्वेच्छानुसार व्यय हेतु प्रतिदिन एक रुपया राज्य की ओर से मिलने लगा। समुचित व्यवस्था के उपरान्त स्वामीजी अलवर नरेश को पढ़ाने राजकीय सवारी में नियत समय पर महल जाते थे। वे राजा को वरदराज कृत लघु-सिद्धान्तकौमुदी[7] पढ़ाने लगे। एक दिन राजा ने प्रार्थना की कि कोई ऐसा उपाय किया जाए कि अल्प समय में व्याकरण का अधिक ज्ञान हो जाए। तब दण्डीजी ने उनकी प्रार्थना पर 'शब्दबोध' की रचना की।[8]

अलवर नरेश दण्डीजी के स्वभाव एवं वैराग्य से सुपरिचित थे। अत: सेवा-शुश्रूषा में तत्पर रहते थे। उनका दण्डीजी को प्रसन्न रखने का पूरा प्रयत्न रहता था। राजा विनयसिंह की उनके प्रति इस श्रद्धा से अलवर के अन्य पण्डित दण्डीजी से द्वेष करने लगे। उन्हें यह सहन नहीं था कि अलवर नरेश बाहर से लाए गए संन्यासी से विद्याग्रहण करें परन्तु भद्रजन उनका बहुत सम्मान करते थे। यद्यपि विरजानन्द अभी मथुरा निवास जैसे वाक्पटु तथा

शास्त्रज्ञ तो नहीं हो पाए थे पर जब भी शास्त्र-चर्चा होती वे इन ईर्ष्यालु पण्डितों को प्रायः निरुत्तर कर देते थे। इन पण्डितों के परास्त होने की तो कोई चर्चा न होती पर यदि दण्डीजी कभी किसी विषय में अटक जाते तो वे पण्डित बहुत कोलाहल करते। 'अन्धा भूल गया' — ऐसा कहकर अपनी हीन-मनोवृत्ति का परिचय देते। इस तरह वे राजा विनयसिंह के मन में दण्डी जी के प्रति सम्मान कम करने का प्रयत्न करते रहते थे। उनकी इस लीला का दण्डी जी पर कुछ भी प्रभाव नहीं था।

राजा विनयसिंह तथा बदरिया के अंगदराम के अतिरिक्त अलवर निवासी परमसुख[9] भी दण्डीजी से नित्य पढ़ते थे तथा उनकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखते थे। अभी दण्डीजी ने अनार्षग्रन्थों का खण्डन तो शुरू नहीं किया था पर अष्टाध्यायी के प्रति उनकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। उनकी विचार सरणी में अष्टाध्यायी की श्रेष्ठता तथा अनार्षग्रन्थों की अपकारिता झलकने लग गई थी।

अलवर प्रवास के तीन-चार वर्षों में दण्डीजी ने विनयसिंह को नियमपूर्वक शब्दबोध, लघुकौमुदी, विदुर-प्रजागर[10], तर्क-संग्रह[11], रघुवंश[12] आदि पढ़ाए जिससे वे सहज संस्कृत बोलने के योग्य हो गए। राजा को एक वीतराग संन्यासी को दिए वचन का अहसास था। कहीं वचन भंग न हो जाए , इसकी उन्हें बहुत चिन्ता रहती थी। वे पूर्ण विनम्र भाव से सामान्य विद्यार्थी की तरह पढ़ने आते और पाठ समास होने पर चले जाते। उनके श्रद्धामय विनम्र व्यवहार से कदाचित् ऐसा आभास न होता कि ये वही तेजस्वी नरेश हैं जिनके क्रोध से यदा-कदा समस्त अलवर काँप उठता है और जो आवश्यकता पड़ने पर बिना झिझक एकाधिक व्यक्तियों के शिरच्छेद का आदेश दे देते हैं।

राजा विनयसिंह पुत्रहीनता के असह्य दुःख से ग्रस्त थे। उधर 1826 ई. में अंग्रेज़ी सरकार ने अलवर के उत्तरी भाग का एक अलग राज्य बना दिया था, जिसकी राजधानी तिजारा थी और शासक बलवन्तसिंह।[13] राजा की कठिनाइयों का लाभ कई स्वार्थी पण्डित उठाते रहते थे जो अनिष्ट की आशंका का भय जताकर उपचार के बहाने धन बटोरते थे। दण्डीजी को कुपात्र स्वार्थी लोभी पण्डितों का राजसम्मान पसन्द नहीं था। वे केवल सुपात्र की पूजा के समर्थक थे। वे अपने शिष्य विनयसिंह को अनेक कठिन परिस्थितियों में हितकर राय देते थे। इसीलिए अलवर से चले जाने पर भी राजा विनयसिंह की श्री चरणों में

श्रद्धा पूर्ववत् बनी रही थी।

विनयसिंह को पढ़ाने का क्रम वर्षों सुचारु रूप से चलता रहा। एक दिन दण्डीजी निश्चित समय पर पढ़ाने गए तो राजा अनुपस्थित थे। न कोई पूर्व अनुमति, न कोई पूर्व सूचना। कहते हैं कि युवा राजा नाच तमाशा देखते रह गए। यह भी कहा जाता है कि वे किसी आवश्यक राजकार्य में व्यस्त थे। कुछ भी कारण रहा हो, वचन भंग हो गया। दण्डीजी ने कुछ समय शिष्य की प्रतीक्षा की, फिर महल से चल पड़े और अलवर त्यागने का निश्चय कर लिया। अनिष्ट की आशंका से चिन्तित अलवर नरेश ने दण्डीजी के पास जाकर नम्रतापूर्वक क्षमा याचना की।

दण्डीजी ने स्नेहपूर्वक कहा, राजन्! स्मरण है कि मेरे यहाँ आने से पूर्व गंगा तट पर आपने क्या कहा था?

अलवर नरेश, महाराज! अच्छी तरह स्मरण है। मैंने **तच्चेन्नियतम्** के उत्तर में **वरम्** कहा था।[14]

दण्डी जी, तो क्या आपने प्रतिज्ञा भंग नहीं की?

अलवर नरेश, दोषी हूँ, महात्मन्।

दण्डी जी, राजन्! आप तो अपनी प्रतिज्ञा भंग कर सकते हैं पर मैं नहीं कर सकता। वचन भंग होने पर न मुझे रुकना चाहिए, न आपको रुकने के लिए कहना चाहिए। आपको स्वयं भी धर्म पर चलना चाहिए और हम जैसों को भी सन्मार्ग पर चलाना चाहिए। आपके स्नेह के कारण आज नहीं जाऊँगा। कल प्रातः चला जाऊँगा। आप कल पधारने का कष्ट न करना, अभी आशीर्वाद दिए देता हूँ। फिर दण्डीजी ने सेवक से अन्दर रखे फल मंगवाकर **फलेन फलितं सर्वम्** आदि कहकर राजा के समक्ष फल रख दिए। राजा ने भी तत्काल 2500 रुपये की स्वर्णमुद्रा मंगवाकर श्री चरणों में भेंट की।[15क]

अगले दिन प्रातः अन्य किसी को बिना बताए कुछ पुस्तकें और मार्ग व्यय के लिए 2500 रुपये लेकर दण्डी जी अंगदराम के साथ भरतपुर के लिए चल पड़े। शब्दबोध सहित कई अमूल्य पुस्तकें और कुछ धन वहीं छोड़ गए।

आम धारणा है कि दण्डी जी अलवर से राजा को बिना बताए चले गए थे। ऐसा ही पण्डित लेखराम, लक्ष्मण आर्योपदेशक आदि ने लिखा है परन्तु यह सही नहीं है। वस्तुतः दण्डी जी राजा विनयसिंह को आशीर्वाद देकर गए थे, न कि सम्बन्ध-विच्छेद कर। इसीलिए राजा विनयसिंह की दण्डी जी के प्रति

श्रद्धा बाद में भी यथावत् बनी रही थी। राजा ने पुत्र रत्न प्राप्ति की खुशी में दण्डी जी की सेवा में एक हजार रुपये भी भेजे थे।[16] कालान्तर में राजा विनयसिंह ने दण्डी जी को पुन: अलवर पधारने की लिखित प्रार्थना के साथ परमसुख को मथुरा भेजा था। तब तक अलवर छोड़े दण्डी जी को जितने महीने हुए थे, पन्द्रह रुपये प्रति मास के हिसाब से राशि तथा एक हजार रुपये अतिरिक्त भेजे गए थे। दण्डी जी ने भेंट तो स्वीकार कर ली थी पर मथुरा छोड़कर पुन: अलवर जाने को रज़ामन्द न हुए थे।[15ख]

क्या वचन भंग के अतिरिक्त भी अलवर छोड़ने का कोई कारण था? क्या मतिराम को उसकी योग्यता से अधिक सम्मान दिया जाना तो कारण नहीं बना? कहते हैं कि एक पण्डित मतिराम अलवर आए और उसने राजा के समक्ष घोषणा की कि वह मन्त्र--जप द्वारा पुत्रहीन व्यक्ति को पुत्रलाभ करवा सकता है। दुखी राजा ने स्वीकृति दे दी। मन्त्र-जप हुआ। दैवयोग से 14 सितम्बर, 1845 ई. रविवार को पुत्ररत्न ने जन्म लिया। श्रेय गया मतिराम को। राजा ने प्रसन्न होकर उसे हाथी, घोड़ा, पालकी तथा बहुत धन दिया। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय उस समय दण्डी जी का प्रवास अलवर में मानते हैं। उनका विचार है कि कुपात्र की ऐसी प्रतिष्ठा से दुखी होकर दण्डी जी ने अलवर त्याग का मन बना लिया होगा[3ख] परन्तु यह निष्कर्ष तथ्याश्रित नहीं है। दण्डी जी तो इस घटना से पहले ही अलवर से जा चुके थे क्योंकि 'सवा छियासठ वर्ष के करीब अवस्था' (अर्थात् 1846 ई. के आरम्भ) में उनकी सोरों में अस्वस्थता और फिर मथुरा गमन का वर्णन पण्डित मुकुन्ददेव ने लिखा है।[17] अत: दण्डी जी विनयसिंह के पुत्र शिवदानसिंह के जन्म से पूर्व सोरों चले गए थे। पुत्रोत्पत्ति के समय दण्डी जी भले मथुरा हों या अलवर, एक बात स्पष्ट है कि वे किसी अनुष्ठान से पुत्र प्राप्ति सम्भव नहीं मानते थे अन्यथा मतिराम की इस लीला से अप्रसन्न न होते। दण्डी जी की सोच और मान्यताओं के विषय में यह एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

एक प्रश्न और। अलवर के संग्रहालय में किसी चित्रकार का बनाया एक जटाजूट उपवीतधारी व्यक्ति का चित्र है। इस चित्र पर व्यक्ति-विशेष का नाम लिखा हुआ नहीं है। जयपुर म्यूजियम के अवरकालीन क्यूरेटर ठाकुर जगदीशसिंह गहलोत ने अलवर से यह चित्र प्राप्त किया था। फिर यह आर्यगज़ट (उर्दू साप्ताहिक, लाहौर) के 1926 ई. के ऋष्यंक में छपा था। क्या यह चित्र स्वामी

विरजानन्द दण्डी का है ? बिल्कुल नहीं।[18] इस चित्र में यज्ञोपवीत तथा केश दिखाए गए हैं। अलवर वास के दिनों न यज्ञोपवीत था, न केश। दण्डीजी केश रखते थे, ऐसा किसी लेखक ने नहीं लिखा।

पण्डित लेखराम तथा देवेन्द्रनाथ दोनों ही अलवर प्रवास तीन-चार वर्ष का मानते हैं। भीमसेन शास्त्री ने साढ़े तीन साल लिखा है। हरविलास शारदा ने केवल छह महीने लिखा है, जो निश्चय ही गलत है।

स्वामी विरजानन्द दण्डी अंगदराम के साथ अलवर से चलकर डीग (पुराना नाम दीर्घ) व कुम्हेर होते हुए भरतपुर पहुँचे। डीग और कुम्हेर भरतपुर रियासत की तहसीलें थीं और भरतपुर से क्रमश: बत्तीस किलोमीटर उत्तर तथा अठारह किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में हैं। भरतपुर अलवर से लगभग एक सौ पच्चीस किलोमीटर पूर्व में स्थित है। तब यहाँ का शासन बलवन्तसिंह के अधीन था। उन्होंने 1835 ई. में शासन सम्भाला था।[19] अत: दण्डीजी 1835 ई. या इसके थोड़ा बाद ही भरतपुर पहुँच गए थे। दण्डीजी के विद्याबल, विमल चरित्र एवं वैराग्य से अत्यधिक प्रभावित राजा बलवन्तसिंह ने उनकी बहुत सेवा की और स्थाई रूप से भरतपुर ठहरने का उनसे अनुरोध किया। परन्तु दण्डीजी वहाँ केवल छह महीने ठहरे। राजा ने विदाई के समय चार सौ रुपये तथा एक दोशाला भेंट किया।

दण्डी जी भरतपुर से मथुरा होते हुए मुरसान पहुँचे और वहाँ के राजा टीकमसिंह का आतिथ्य स्वीकार किया।[20] कुछ समय वहाँ विराजमान रहे। शिष्य अंगदराम पूर्ववत् साथ था। मुरसान से बेसवां चले गए। कुछ दिन वहाँ के राजा गिरधरसिंह के अतिथि रहकर पुन: मुरसान होते हुए सोरों विश्रान्त में आ विराजे।[21]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. राजा विनयसिंह द्वारा आरम्भ किए गए इस पुस्तकालय में 1944 ई. में आठ हजार पुस्तकें तथा पाण्डुलिपियाँ थीं। पुस्तकशाला, चित्रशाला तथा शिलाखाना को मिलाकर 1940 ई. में अलवर का राजकीय संग्रहालय स्थापित किया गया था। पुराने महल में स्थित यह संग्रहालय अब पुरातत्व एवं संग्रहालय निदेशालय, जयपुर के अधीन है।

2. गुलिस्तां शेखशादी की सरल फ़ारसी में लिखी उपदेशात्मक कहानियाँ हैं। इसकी प्रति लिखने वाले का नाम देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने आग़ाजी लिखा है (विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 34 पाद टिप्पणी), जो सही नहीं है।

3. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, (क) पृष्ठ 52, (ख) पृष्ठ 49-51

4. भीमसेन शास्त्री, विरजानन्द-प्रकाश, क्रमशः पृष्ठ 25, प्राग्वचन पृष्ठ 19; शास्त्रीजी ने इन तिथियों के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं दिया।

5. ऐसा सोरों निवासी आचार्य रामकिशोर आर्योपदेशक ने पार्वती वल्लभ पण्डा से पूछकर लेखक को बताया था।

6. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखते हैं — ''कोई यह कहते हैं कि विरजानन्द के अलवर में रहने के लिए मुन्शीबाग नियत हुआ था परन्तु यह बात ठीक नहीं है '' (द्रष्टव्य : विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 37 पाद टिप्पणी)।

7. भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी का उनके शिष्य वरदराज द्वारा मध्यकौमुदी तथा लघु-सिद्धान्तकौमुदी नाम से क्रमशः संक्षेप तथा अति संक्षेप किया गया है। लघु-सिद्धान्तकौमुदी में सिद्धान्तकौमुदी के प्रकरणों के क्रम में परिवर्तन कर उसे बाल-सुबोध बनाने का प्रयत्न किया गया है।

8. शब्दबोध के मंगलाचरण में लिखा है —

कमठवीरवरस्य महीपतेरलवराद्युपलक्षितनीवृताम्।
विनयसिंहमहायशसः कृते क्रियत एष सुशब्दजबोधकृत्॥

इस ग्रन्थ के अन्त में लेख है —

राज्ञां ख्यातिमतां हि कच्छपतया श्रीर्यत्र संराजते,
श्रीमानालवरो द्विषां स विजयी शार्दूलविक्रीडितम्।
तस्य श्रीविनयेशभूपतिलकस्याऽऽज्ञावशादुद्धृतः,
सारो व्याकरणस्य तेन भगवाञ्श्रीशंकरः श्रीयताम्॥

9. परमसुख को दण्डी जी के जीवनी लेखकों ने प्रेमसुख लिखा है परन्तु वास्तविक नाम परमसुख ही है। दण्डी जी ने भी जयपुर नरेश को लिखे पत्र में इनका नाम परमसुख ही लिखा है। वह जयपुर की धर्मसभा (मौज मन्दिर) के सदस्य भी रहे थे।

10. महाभारत के उद्योग-पर्व का उपपर्व विदुरप्रजागर व्यवहार कुशल महात्मा विदुर का उपदेश है। धृतराष्ट्र को दिया गया यह व्यावहारिक उपदेश संस्कृत साहित्य में विदुरनीति के नाम से विख्यात है।

11. तर्क-संग्रह के रचयिता तेलंगाणा के गारिकापाद निवासी अन्नंभट्ट की शिक्षा काशी में हुई थी। उन्होंने अपने तर्क-संग्रह पर दीपिका नामक टीका भी लिखी है। उनका स्थितिकाल सतरहवीं सदी का उत्तरार्द्ध है।

12. कालिदास के इस महाकाव्य के उन्नीस सर्गों में सूर्यवंशी इक्कीस राजाओं का चरित्र वर्णित है। काल-प्रवाह के साथ इस पर चालीस टीकाएँ लिखी गई हैं, जिन में मल्लिनाथ की टीका सर्वप्रसिद्ध है।

13. अलवर अधिपति बख्तावरसिंह की 1815 ई. में मृत्यु के समय उनका भतीजा विनयसिंह तथा अवैध पुत्र बलवन्तसिंह दोनों ही अल्पवयस्क थे। वे विनयसिंह को उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे परन्तु इस घोषणा को क्रियान्वित करने से पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई।

विनयसिंह ने 1824 ई. में सत्ता तो सम्भाल ली परन्तु उनके और बलवन्तसिंह के मध्य विवाद जीवित रहा (Imperial Gazetteer of India, Vol. V, pp. 257-58)।

14. दण्डी जी ने कहा था : 'यह अध्ययन नियमपूर्वक हो।' तब राजा विनयसिंह ने वचन दिया था : 'ठीक है'।

15. पण्डित मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, (क) पृष्ठ 27, (ख) यह उत्तर पाकर राजा विनयसिंह पहले तो बहुत निराश हुए; फिर अलवर को संस्कृत शिक्षा का केन्द्र बनाने के लिए प्रधानमन्त्री रूपनारायण के सुझाव पर एक लाख रुपये अलग निकाल दिए ताकि गायत्री की सफल परीक्षा देने वाले प्रत्येक ब्राह्मण को गोदान के पैन्तालीस रुपये दिए जाएं। फिर क्या था! दूर-दूर से ब्राह्मण परीक्षा देने आने लगे (पृष्ठ 59-63)।

16. भीमसेन शास्त्री यह मानते हैं कि "यह भेंट मथुरा में भेजी गई थी" (विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 32, 40 पाद टिप्पणी)। यह भी हो सकता है कि दण्डी जी तब सोरों में हों।

17. भीमसेन शास्त्री के अनुसार पुत्र जन्म दण्डीजी के अलवर छोड़ने के दस वर्ष पश्चात् हुआ (विरजानन्द-प्रकाश,पृष्ठ 32), जो सही है।

18. यही मत पण्डित भगवद्दत्त और पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक का है (द्रष्टव्य: क्रमशः भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग 2, पृष्ठ 975; विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 33-34 पाद टिप्पणी)।

19. Imperial Gazetteer of India, Vol. VIII , p.78; भीमसेन शास्त्री यह मानते हैं कि बलवन्तसिंह सम्वत् 1882 (तदनुसार 1825 ई.) के अन्त में सिंहासनासीन हुए थे (विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 34) परन्तु देवेन्द्रनाथ की मान्यता का इसी पृष्ठ 34 पर पाद टिप्पणी में खण्डन करते हुए उनका 5 फरवरी, 1826 को गद्दी पर बैठना लिखते हैं, जो गलत है। भरतपुर के बलवन्तसिंह तथा तिजारा के बलवन्तसिंह दोनों भिन्न व्यक्ति थे।

20. मुरसान के राजा टीकमसिंह कालान्तर में ऋषि दयानन्द के भी परम भक्त रहे। देशभक्त राजा महेन्द्रप्रताप (1886-1979 ई.) इन्हीं राजा साहब के प्रपौत्र थे। वे आर्यपेशवा राजा महेन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्हें हाथरस के राजा हरनारायणसिंह ने 1885 ई. में गोद ले लिया था। ऋषि दयानन्द द्वारा फर्रुखाबाद में स्थापित पाठशाला उन्हीं द्वारा वृन्दावन में दी गई भूमि पर स्थानान्तरित होकर गुरुकुल कहलाई थी।

21. पण्डित लेखराम, लक्ष्मण आर्योपदेशक, मेहता राधाकिशन, पण्डित मुकुन्ददेव तथा भीमसेन शास्त्री भी दण्डीजी का अलवर से चलकर भरतपुर और मुरसान ठहरते हुए सोरों पहुँचना मानते हैं। इसे सही न मानने का कोई ठोस आधार नहीं है। स्वामी सत्यानन्द के अनुसार दण्डीजी अलवर से सीधे सोरों आए। वहाँ से मुरसान तथा भरतपुर जा पुनः सोरों लौट आए। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के लेखानुसार वे अलवर से सीधे सोरों गए, वहाँ से मथुरा जाते हुए मुरसान और भरतपुर रुके थे।

सोरों पुनर्वास

दण्डीजी ने सोरों पधारकर पूर्ववत् अंगदराम आदि शिष्यों को कौमुदी आदि व्याकरणग्रन्थ पढ़ाना आरम्भ कर दिया। वे अध्यापन के साथ-साथ शास्त्र-चिन्तन एवं ईश-भजन में लीन रहते थे। प्रतिदिन कोई-न-कोई श्रद्धालु दर्शनार्थ आ जाता तथा श्रीसेवा में कुछ भेंट दे जाता था — इस प्रकार व्यवस्था ठीक चलने लगी।

जीवन की इस लम्बी अवधि के अनुभवों एवं विचार-मन्थन ने उनके गम्भीर चिन्तन को क्रान्तिकारी पुट देना शुरू कर दिया था। तथाकथित शास्त्रज्ञ एवं धर्म के ठेकेदारों के अहम् , प्रपंच, धन बटोरने की लालसा और चालाकियाँ उन्हें खलती थीं। कभी-कभी उनके दम्भ, पाखण्ड और अविद्या से वे बहुत क्षुब्ध हो जाते थे। वे देश-दशा, निर्धनता एवं सर्वत्र फैली अराजकता से सुपरिचित थे। भारत अंग्रेज़ी शासन के शिकंजे में उनके सामने जकड़ा गया था। अंग्रेज़ के सिखों, जाटों, गोरखों, मराठों तथा हाड़ा राजपूतों के साथ युद्धों के वे स्वयं साक्षी थे। पंजाब, आगरा अवध प्रदेश, बिहार, उधर कोलकाता तक और इधर राजस्थान के कुछ भाग में वे स्वयं विचरण कर चुके थे। इस लम्बे भ्रमण में अनेक स्थानों एवं मेलों में असंख्य लोगों से साधु का सम्पर्क हुआ था। उनका संवदेनशील हृदय न जाने किस-किस दुःख-दर्द, व्यथा एवं पीड़ा से भरा हुआ था, परन्तु इस स्थिति को सुधारने हेतु संघर्ष के मार्ग में नेत्रहीनता तथा आयु बाधक थी। प्रायः उदर-शूल से पीड़ित रहते थे। कितने ही वर्ष बीत गए । अनेक पण्डितों, राजाओं एवं शिष्यों से सम्पर्क हुआ परन्तु उनकी रिक्त आँखें जिस शिष्य-रत्न को पाकर ज्योतिष्मान् होने के लिए तरस रही थीं — वह अब तक न मिला था। कोई ऐसा न मिला जो उनके भीतर की अग्नि का उत्तराधिकारी बन सके। दुखी होने के अतिरिक्त कुछ और समाधान होता दिखाई न देता था।

इसी चिन्ता में वे एक बार अति रुग्ण हो गए।[1] तेज ज्वर के कारण कई दिन अचेत पड़े रहे। चौथे दिन कुछ सुधार हुआ। दण्डीजी ने तुरन्त पढ़ाना शुरू कर दिया। परिणामतः पुनः मूर्च्छित हो गए। शिष्यों ने सेवा-शुश्रूषा की पर व्यर्थ। कहीं एक सप्ताह के पश्चात् कुछ होश आया। बचने की आशा शेष नहीं

थी। अतः दण्डीजी ने अपनी कुछ वस्तुएँ शिष्यों में बांट दीं। 'इस शरीर को गंगा में प्रवाहित कर देना'— इतना ही कह पाए थे कि पुनः मौन हो गए। स्थिति दिन प्रतिदिन बिगड़ती रही। एक प्रातः उनके एक शिष्य ने एक गाड़ी किराए पर की, दण्डीजी को उसमें लिटाया, ऊपर चादर दे दी और गाड़ी वाले से कहा — इन्हें गंगाधारा पर ले जाओ। यदि तब तक प्राण बचे रहें तो गंगा के तट पर उतार देना अन्यथा धारा में बहा देना। चालक लगभग नौ बजे धारा पर पहुँच गया परन्तु यह तसल्ली न कर पाया कि अभी प्राण चल रहे हैं या नहीं। अतः प्रज्ञाचक्षु दण्डीजी को गंगा के किनारे उतारकर चला गया। वे एक चादर में लिपटे सारा दिन बेसुध वहीं पड़े रहे।[2]

सन्ध्याकाल में गढ़ी के एक साधु ने उन्हें अचेतनावस्था में पड़े देखा। उसने तुरन्त महन्त मथुरादास वैरागी[3] को सूचित किया। वे तभी पाँच-सात साधुओं के साथ वहाँ पहुँच गए। देखते ही पहचान लिया कि अचेतन साधु तो स्वामी विरजानन्द दण्डी हैं। शरीर में अभी प्राण शेष थे। महन्तजी ने एक खाट मंगवाई। दण्डीजी को उस पर लिटाया। शरीर के कुछ भाग पर चादर ओढ़ा दी और उन्हें गढ़ी ले गए। रातभर साधुओं ने सेवा की। प्रातः हुई। दण्डीजी को होश आया। वे उठकर बैठ गए। ओ३म् का उच्चारण किया। यह सूचना पाकर मथुरादास भी आ गए। दातुन आदि के पश्चात् उन्हें मूंग की दाल का पानी दिया गया। वे तीन-चार दिन वहीं ठहरे रहे, सेवा होती रही। तब कुछ स्वास्थ्य लाभ होने पर दण्डीजी ने पुनः विश्रान्त पर स्वस्थान जाना चाहा। मथुरादास रोकना चाहते थे परन्तु दण्डीजी के अनुरोध पर उन्हें गाड़ी में बैठाकर एक साधु के साथ आदर सहित विदा कर दिया।

जब दण्डीजी पुनः अपने आसन पर विराजमान हुए तो उन्हें जीवित देखकर सभी लोग विस्मित हुए। वे तो उन्हें परलोकवासी मान चुके थे। उनकी अनुपस्थिति में मकान का ताला टूट चुका था और उनके वस्त्र, पुस्तकें, भोजनादि की सामग्री आदि सब कुछ जा चुकी थीं। दण्डीजी ने किसी से कुछ चर्चा नहीं की। अब सोरों में रहने का उनका मन नहीं था। गाड़ी किराए पर कर मथुरा जाने का मन बना लिया। संयोगवश एक गाड़ी मिल गई जिसे वापस मथुरा लौटना था। एक परिचित को साथ लेकर गाड़ी पर बैठ मथुरा के लिए चल पड़े।

दण्डीजी ने मथुरा के लिए प्रस्थान तो कर दिया परन्तु कोई पैसा-धेला[4]

पास नहीं था। मार्ग में सेवक तथा गाड़ी चालक के लिए भोजन और बैलों के लिए चारे की व्यवस्था न थी। मथुरा पहुँचकर गाड़ी का किराया भी देना था। जिस एक मात्र परम सहायक प्रभु के सहारे किशोरावस्था में पैतृक ग्राम छोड़कर ऋषिकेश की राह पकड़ी थी, आज भी उसी के सहारे स्वस्थान त्याग मथुरा चले हैं। संयोग देखिए। अभी थोड़ी दूर ही गए थे कि दिलसुखराय[5] अपनी घोड़ा-गाड़ी में कासगंज से सोरों आते हुए मिल गए। वे जितने धनवान् थे, उतने ही दण्डीजी के भक्त भी थे। देखते ही गाड़ी रुकवाकर नीचे उतर दण्डीजी को प्रणाम किया और पाँच जयपुरी अशर्फ़ियाँ[6] श्रीसेवा में भेंट कीं। दण्डीजी ने व्ययार्थ एक अशर्फ़ी के बदले रुपये चाहे। बहुत आग्रह करने पर भी दिलसुखराय ने अशर्फ़ी वापस न ली अपितु जेब में पड़े आठ रुपये और भेंट कर दिए। दण्डीजी पहली रात नदरई, दूसरी रात सिकन्दराराऊ (अथवा रती का नगला), तीसरी रात मेंडू (हाथरस) और चौथी रात मुरसान ठहरे।[7] पाँचवें दिन मथुरा पदार्पण किया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने ठहरने के लिए गूजरमल[8] की हवेली का मार्ग पूछा। एक वृद्ध चौबे ने उन्हें वाञ्छित स्थान पर पहुँचा दिया। बैलगाड़ी वाले को किराया और ईनाम देकर विदा कर दिया परन्तु सेवक को सेवा के लिए साथ रख लिया।

अब तक दण्डीजी शुरू के तेरह वर्ष गंगापुर रहे। फिर दो-अढ़ाई वर्ष घूमते रहे। तदनन्तर तीन साल ऋषिकेश में साधना की। अगले पैन्तालीस वर्षों में हरिद्वार, कनखल, काशी, गया, कोलकाता तथा पहली बार सोरों आदि स्थानों पर कितना-कितना समय रहे — ज्ञात नहीं। कार्त्तिक 1889 वि. (अर्थात् जून 1832) में अलवर चले गए। वहाँ साढ़े तीन साल, भरतपुर छह महीने और मुरसान कुछ समय रहे। इस प्रकार सोरों में पुनर्वास के लिए लगभग 1836 ई. में पधारे और फिर 1846 ई. में मथुरा के लिए प्रस्थान किया। अत: सोरों पुनर्वास लगभग नौ-दस वर्ष का रहा। फिर अगले बाईस-तेईस वर्ष दण्डीजी ने मथुरा को सुशोभित किया।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. पण्डित मुकुन्ददेव के अनुसार तब उनकी आयु सवा छियासठ वर्ष के लगभग थी (दण्डी जी की जीवनी, पृष्ठ 29)। अत: यह घटना 1846 ई. के आरम्भ की है।

2. दण्डीजी का बीमार होना निर्विवाद है। इस भयंकर बीमारी का सभी लेखकों ने उल्लेख किया है। उन्हें अचेतावस्था में गंगातट पर छोड़ आने का वर्णन सर्वप्रथम पण्डित मुकुन्ददेव (वही, पृष्ठ 29-31) और फिर उनके आधार पर भीमसेन शास्त्री (विरजानन्द-

प्रकाश, पृष्ठ 36-39) ने किया है। वर्षों छायावत् साथ रहने वाले बदरिया निवासी अंगदराम तब तक शिक्षा ग्रहण कर चले गए थे। अचेतनावस्था में गाड़ी में भेजने वाले शिष्य का नाम पण्डित मुकुन्ददेव ने नहीं लिखा परन्तु दिसम्बर 1921 में भीमसेन शास्त्री के साथ वार्तालाप में पण्डित अंगदराम बताया था जिसे भीमसेन ने भी सही नहीं माना। उनके अनुसार वे बाद में आए और फिर गढ़ी में सेवा की (विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 37-38 पाद टिप्पणी)। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार भी ''अंगदराम ने रुग्ण गुरुदेव की यथोचित सेवा की'' (विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 53)।

3. मथुरादास वैरागी ने साधु-संन्यासियों के लिए सोरों में अम्बागढ़ के पास तथा सोतुआ ग्राम में गढ़ियाघाट पर कुछ कुटियाएँ बनवाई थीं। ये मथुरादास की कुटी, मथुराजी की गढ़ी, गढ़ी, वैष्णव साधु छावनी अथवा छावनी आदि नामों से प्रसिद्ध थीं। गढ़ियाघाट की गढ़ी में प्राय: सौ-दो सौ साधु ठहरे ही रहते थे। ये दूसरी कुटियाएँ कालान्तर में गंगधारा में समा गईं। सोरों में हर की पैड़ी तालाब पर पश्चिम दिशा में अम्बागढ़ अखाड़ा है। पहले यह साधुओं का अखाड़ा था। फिर यहाँ कुश्तियाँ लड़ी जाती थीं।

4. एक रुपये में सोलह आने, एक आने में चार पैसे और एक पैसे में दो धेले होते थे।

5. दिलसुखराय बिलराम निवासी धर्मपरायण एवं सात्विक कुलश्रेष्ठ कायस्थ थे। पहले कासगंज के स्वामी कर्नल जेम्स गार्डन के एजेंट रहे। उसकी मृत्यूपरान्त नील बनाने का कारखाना लगाकर बहुत धन कमाया। इस धन से न केवल कई ग्राम खरीदे अपितु जेम्स के पुत्र से 1859 ई. में कासगंज भी खरीद लिया। उसे 1857 ई. की क्रान्ति में अंग्रेज़ की सहायता करने के बदले राजा की उपाधि, पाँच हजार रुपये की खिल्अत (राज्य की ओर से दी गई सम्मानसूचक भेंट जिसमें वस्त्र तीन से कम न हों) तथा पन्द्रह हजार रुपये वार्षिक कर की रियासत मिली और ऑनरेरी मेजिस्ट्रेट नियुक्त किया गया।

6. उन दिनों देशी राज्यों में पृथक् मुद्राओं का प्रचलन था। अशर्फ़ी जयपुर की स्वर्ण मुद्रा थी। तब एक जयपुरी अशर्फ़ी का मूल्य बाईस रुपये था।

7. सिकन्दराराऊ तथा रती का नगला छोटी रेलवे लाइन पर स्टेशन हैं। हाथरस जंक्शन के निकट मेडू गाँव स्थित है।

8. दण्डीजी का गूजरमल से पूर्व परिचय था। उनके पूर्वज मिश्र दयानन्द दैवज्ञ को अलवर राज्य में एक जागीर मिली हुई थी। गूजरमल मथुरा में चौक बाजार में रहते थे। मेघा गली में बाजार की चार-पाँच दुकानों के ऊपर उनकी हवेली में दण्डीजी रहने लगे। यहाँ से यमुना कुछ दूर पड़ती थी। दण्डीजी बाद में गतश्रमनारायण मन्दिर तथा केदारनाथ खत्री के मकान में रहे। गतश्रमनारायण मन्दिर परिसर में प्रवेश करते समय बाईं ओर जो कमरे थे, उन्हें कचहरी कहते थे। उन्हीं कमरों में दण्डीजी रहते थे। कहते हैं वे कुछ समय दण्डीघाट पर बनी कुटिया में भी रहे थे।

मथुरा निवास

दण्डीजी मथुरा कब पधारे ? उन्होंने यह नगर क्यों चुना ? पाठशाला कब खोली ? ऐसे सभी प्रश्न निश्चित उत्तर मांगते हैं। पण्डित लेखराम, मेहता राधाकिशन, लक्ष्मण आर्योपदेशक तथा बावा छज्जूसिंह सम्वत् 1893 वि. (अर्थात् 1836 ई.) में मथुरा पधारना लिखते हैं, जो सही नहीं है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय दण्डीजी का अलवर नरेश के पुत्रजन्मोत्सव (14 सितम्बर, 1845 ई.) के पश्चात् अलवर छोड़ना और फिर लगभग सम्वत् 1903-1904 वि. (1846-47 ई.) में मथुरा पधारकर पाठशाला स्थापित करना मानते हैं। यद्यपि भीमसेन शास्त्री दण्डीजी का अलवर त्याग राजा विनयसिंह के पुत्र जन्म से वर्षों पूर्व घोषित करते हैं परन्तु मथुरा गमन सम्वत् 1902 ग्रीष्मारम्भ (1845 ई.) में लिखते हैं। यही मत जॉर्डन्स तथा दण्डीजी के शिष्य पण्डित उदयप्रकाश के पौत्र सुधाधरदेव का है कि दण्डीजी 1845 ई. में मथुरा पधारे थे।[1] दण्डीजी के नाम मथुरा के पते पर लिखे गए एकमात्र उपलब्ध पत्र पर 'संवत् १९०८ मीति मार्ग सुदि १२' (अर्थात् 14 जनवरी,1851) लिखा है।[2] अतः यह निश्चित है कि वे 1851 ई. से पूर्व मथुरा पधार चुके थे। पण्डित मुकुन्ददेव के अनुसार जब दण्डी जी सोरों में अस्वस्थ हुए तब वे सवा छियासठ वर्ष के थे। वे गंगा के तट पर दिन भर एक चादर में लिपटे अचेत पड़े रहे थे,[3क] अतः यह मार्च मासान्त अथवा अप्रैल का आरम्भ का समय रहा होगा। फिर वे स्वस्थ होकर एक महीने के भीतर वहाँ से मथुरा चले गए थे। अतः वे मई 1846 ई. (बैशाख 1903 वि.) के आस-पास मथुरा पहुँचे थे।

दण्डीजी द्वारा मथुरा को ही सुशोभित करने का क्या रहस्य है ? बीमारी के बाद केवल स्वास्थ्य-लाभार्थ मथुरा आना उपयुक्त एवं बुद्धिगम्य हेतु नहीं लगता। अब से पहले दण्डीजी कई प्रमुख धार्मिक स्थलों की यात्रा कर चुके थे। देसी रियासतों के राजाओं के साथ भी सम्पर्क था। दो-तीन राजा-रजवाड़ों के पास रहकर भी देख लिया था। केवल निजी सुख-सुविधा के लिए कहीं डेरा जमाने वाले साधु वे नहीं थे। न ही वे परावलम्बी थे। भले ही मथुरा कालान्तर में आर्षग्रन्थ अभियान के लिए उपयुक्त स्थान सिद्ध हुआ परन्तु देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का यह मत कि मथुरा को भविष्य में आर्षग्रन्थ अभियान

के लिए उपयुक्त स्थान समझकर ही दण्डी जी यहाँ आए थे,[4] भी सही नहीं लगता। मथुरागमन तक दण्डी जी ने संस्कृत-वाङ्मय की मीमांसा आर्ष-अनार्ष के आधार पर की हो, इसका कोई प्रमाण नहीं है। फिर कारण क्या था ?

दण्डीजी अब तक पर्याप्त शास्त्राध्ययन तथा मनन कर चुके थे। लगता है अब वे पढ़ाने को प्राथमिकता देना चाहते थे ताकि कोई ऐसा योग्य शिष्य मिल जाए जो उनकी चिन्तन-परम्परा को भविष्य में जीवित रखे और उसे यथा-सम्भव विस्तार दे। इस माप-दण्ड पर मथुरा पूरी उतरती थी। इस स्थान से वे सुपरिचित थे। यहाँ न केवल पचासों पण्डित सारस्वत, चन्द्रिका, अमरकोष, शीघ्रबोध, होडाचक्र, भागवत आदि पढ़ाते थे, अपितु आठ-नौ सौ तो स्थानीय विद्यार्थी ही थे। चार सौ के लगभग छात्र अन्य स्थानों से भी अध्ययनार्थ आते रहते थे।[3ख] तीर्थयात्री सेठ-साहूकार, राजा-जागीरदार पण्डितों एवं विद्यार्थियों को श्रद्धापूर्वक दान-दक्षिणा देते रहते थे। कई देसी रियासतें निकट स्थित थीं, जिनके राजा दण्डीजी के श्रद्धालु थे। दण्डीजी के गुरु भाई पण्डित किशनसिद्ध चतुर्वेदी व शिवानन्द आदि यद्यपि वृद्ध हो चुके थे पर अभी जीवित थे और मथुरा में ही रहते थे। किशनसिद्ध चतुर्वेदी का भी दण्डीजी से मथुरा निवास का अनुरोध था।[5] इस नगरी को चुनने के ये ही सम्भव कारण लगते हैं।

कहते हैं कि गूजरमल की कोठी पर ही छात्र पढ़ने आने लग गए थे परन्तु दण्डीजी वहाँ डेढ़-दो महीने से अधिक नहीं ठहरे। गतश्रमनारायण मन्दिर[6] के व्यवस्थापक प्रसादीलाल आचार्य के अनुरोध पर उस मन्दिर में चले गए। मन्दिर में प्रवेश करते ही बाईं ओर स्थित जिन कमरों को कचहरी कहते थे, दण्डी जी उन्हीं कमरों में रहने लगे। इस मन्दिर में पाठशाला खोल दी गई जो केवल दो महीने चली। प्रसादीलाल के अठारह वर्षीय पुत्र वासुदेव ने इन्हीं दिनों दण्डी जी से पढ़ना आरम्भ कर दिया। दण्डीजी किसी स्थान-विशेष पर स्थिर होकर अध्यापन करना चाहते थे। अतः उन्हें स्वतन्त्र स्थान की आवश्यकता अनुभव हुई। इसलिए मन्दिर से पाठशाला उठाकर निकट ही कंसखार पर केदारनाथ खत्री के दो मंज़िला मकान में ले गए।

उन दिनों मथुरा की गली दशावतार में एक नयनसुख जड़िया स्वर्णकार रहता था। गली के सामने ही उसकी दुकान थी। रत्न जवाहरात का यह निपुण पारखी पढ़ा-लिखा तो कम था परन्तु साधु-संन्यासियों के प्रति गहरा सेवाभाव रखता था। दण्डीजी के विषय में सुनकर वह एक दिन दोपहर बाद दर्शनार्थ

गतश्रमनारायण मन्दिर में पहुँच गया और अपना परिचय देकर कहने लगा, महाराज! मैं नित्य आपकी महिमा सुनता हूँ। आपके पधारने से लगता है कि बेचारी मथुरा के शुभ दिन आ गए हैं।

दण्डीजी विनोद में बोले, नयनसुख! तुम्हारी और मेरी क्या तुलना? तुम नयनसुख और मैं नेत्रहीन। साथ ही तुम जौहरी भी हो। तुम्हारे यहाँ रहने से मथुरा के दिन नहीं बदले, तो मेरे मथुरा निवास से क्या होगा?

नयनसुख, महाराज सलोक तो मुझे याद नहीं परन्तु भावार्थ यह है कि राजा लोग दूतों से देखते हैं, पण्डित वेद से देखते हैं और गायें नाक से सूंघकर देखती हैं। सामान्य लोग चर्म-चक्षुओं से देखते हैं। फिर भी वे वह नहीं देख सकते, जो आप देख लेते हो।

दण्डीजी, सलोक नहीं श्लोक कहा करो। शुद्ध उच्चारण न कर सको तो पद्य बोला करो। श्लोक इस प्रकार है — **चारैः पश्यन्ति राजानो वेदैः पश्यन्ति पण्डिताः। गावो घ्राणेन पश्यन्ति चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥** अच्छा, कल आना परन्तु किसी विद्यार्थी के पाठ के बीच में न बोलना।

दूसरे दिन नयनसुख पुनः उपस्थित हो गया। बोला, दास हाज़िर है।

दण्डीजी, 'दास' मत कहा करो। अच्छा बताओ, क्या सुनना चाहते हो?

नयनसुख, कुछ जवाहरात के विषय में।

दण्डीजी, नयनसुख! सच तो यह है कि पृथ्वी पर अन्न, जल और सुन्दर भाषण ये ही तीन रत्न हैं। पत्थर के टुकड़ों को रत्न मान लेना तो मूर्खता है।[7] फिर बहुज्ञ दण्डीजी ने उसे विभिन्न रत्नों की परख के विषय में उपदेश दिया। उनकी रत्नपरीक्षा में अद्भुत दक्षता देखकर नयनसुख ऐसा विस्मित हुआ कि प्रतिदिन श्रीसेवा में उपस्थित होने लगा। कभी-कभी एक दिन में दो-तीन बार भी दर्शनलाभ कर लेता था। इस प्रकार पाठशाला के स्थानान्तरण से पूर्व ही उसकी श्रीचरणों में प्रीति हो गई। यद्यपि दण्डीजी ईश्वराराधना, चिन्तन तथा अध्यापन के अतिरिक्त अन्य किसी वार्तालाप से बचते थे, फिर भी नयनसुख जड़िया के विनम्र मधुर स्वभाव एवं सेवाभाव से प्रभावित हो उस पर दयालु हो गए। स्थानान्तरित पाठशाला में आते-जाते पाठ सुनकर उसे व्याकरण का अच्छा ज्ञान हो गया और दण्डीजी के सान्निध्य से शुद्ध उच्चारण सहित संस्कृत बोलने लगा।

दण्डीजी का भक्त बनने के बाद नयनसुख जड़िया की आय में पर्याप्त वृद्धि

हुई। नगर का प्रसिद्ध जौहरी होने के कारण धनी परिवारों में उसका आना-जाना था। वह जिसे भी मिलता, दण्डीजी का श्रद्धापूर्वक गुणकीर्तन करता। कुछ प्रसंग हो, वह दण्डीजी के ही नाम का जप करता रहता था। दण्डीजी के दर्शनलाभ करने हेतु कई श्रद्धालु जड़ियाजी को माध्यम बनाते।

मथुरा के सेठ गुरुसहायमल प्रायः बाहर से आए विद्यार्थियों के भोज़नादि की व्यवस्था करते थे। जड़ियाजी से दण्डीजी के पाण्डित्य की ख्याति सुनकर एक दिन सेठजी अपने मुनीम सहित पाठशाला में जा उपस्थित हुए। दण्डीजी पढ़ा रहे थे। मुनीम ने सेठजी की ओर से पाँच रुपये भेंट किए। तदनन्तर सेठजी ने गर्व से पूछा — महाराज! आपके कितने विद्यार्थियों के वस्त्र-भोजनादि का प्रबन्ध करूँ? दण्डीजी को लगा कि सेठ की श्रद्धा नहीं अपितु अहम् बोल रहा है। यह उन्हें अच्छा न लगा। बोले — मेरा कोई ऐसा विद्यार्थी नहीं है जिसके भोजनादि की व्यवस्था आपको करनी पड़े। सेठ के अहम् पर यह चोट थी। नगर में कोई ऐसी भी पाठशाला है, जिसे उसकी कृपा के सहारे की आवश्यकता नहीं है — यह उन्हें कैसे सहन होता। कुछ-कुछ बोलने लगे। इधर दण्डीजी को भी अध्यापन कार्य में कोई बाधा पसन्द नहीं थी। वे नाराज़ होकर कहने लगे — आपकी उपस्थिति पढ़ाने में बाधक बन रही है। सेठजी चले गए पर वातावरण में तनाव बना रहा।

भोले भक्त नयनसुख जड़िया के कारण एक दिन फिर ऐसा ही हुआ। मथुरा के रईस केदारनाथ खत्री ने जड़ियाजी से पूछा — नगर में शतरंज का सर्वोत्तम खिलाड़ी कौन है? झटपट उत्तर दिया — स्वामी विरजानन्द दण्डी। खत्रीजी ने जड़ियाजी को साथ लिया और जाकर दण्डीजी से शतरंज खेलने की प्रार्थना की। दण्डीजी समय व्यर्थ नष्ट नहीं करते थे। बहुत दुखी हुए। बोले — जड़िया! यहाँ से चले जाओ। कितनी बार तुम्हें समझाया पर तुम पर कोई असर नहीं होता। गुरुजी को खिन्न देखकर जड़ियाजी को बहुत अफ़सोस हुआ। अनुनय-विनय करने लगा। करबद्ध क्षमा चाही। दण्डीजी को उस पर दया आ गई। समझाने लगे — नयनसुख! मेरा तो इतना ही कहना है कि भोजन तथा भाषण में मर्यादा बरतनी चाहिए।[8] तुम इधर-उधर मेरी चर्चा कर देते हो, इससे मेरे कार्य में विघ्न पड़ता है। एक दिन गुरुसहायमल आ गए। आज इन्हें ले आए। इन्हें कह दो, यहाँ शतरंज नहीं है।

केदारनाथ खत्री ने निवेदन किया — महाराज! शतरंज मैं ले आता हूँ।

अब दण्डीजी क्या कहते? शतरंज लाई गई। दण्डीजी ने आठ प्रकार की शतरंज की चर्चा की। फिर खेल आरम्भ हुआ। दण्डी जी बोले, नयनसुख! तुम दो काम करना — जो मोहरा मैं कहूँ वह चलना और लाला जो मोहरा चले वह मुझे बता देना। अच्छा, अब बादशाह का प्यादा चलो।

नयनसुख, चल दिया, महाराज।

दण्डीजी, लाला क्या चले हैं?

नयनसुख, वह भी बादशाह का प्यादा ही चले हैं।

इस प्रकार जड़ियाजी दण्डीजी के आदेशानुसार उनके मोहरे चलाते रहे। कुछ समय पश्चात् खेल समाप्ति पर था। दण्डीजी ने कहा — अब तक हम दोनों की एक सौ इकहत्तर चालें हुई हैं। मैं अब एक सौ बहत्तरवीं चाल चलता हूँ। दण्डीजी ने घोड़े की किश्त दिलाई। केदारनाथ ने बाईं ओर हाथी के पास बादशाह को हटा लिया। तब दण्डीजी कहने लगे — किश्त ऊंट की भी लग सकती है परन्तु वजीर की शय दो और कह दो मात। जड़ियाजी अभी वजीर को छूने ही लगे थे कि केदारनाथ अपने बादशाह की हालत पर हैरान हो गए। वे अनायास बोल उठे — क्या खूब करामाती मात है!

दण्डीजी ने फिर कभी शतरंज न खेली परन्तु केदारनाथ खत्री श्रीसेवा में उपस्थित होने लग गए। उनके प्रबल अनुरोध एवं विनीत प्रार्थना पर दण्डीजी ने गतश्रमनारायण मन्दिर छोड़कर उनका घर किराए पर लेकर वहाँ विराजना स्वीकार कर लिया।

होली द्वार से विश्रामघाट जाने वाली सड़क पर गतश्रमनारायण मन्दिर से लगभग पन्द्रह-सोलह दुकानें पहले छत्ता बाजार में केदारनाथ खत्री का एक दो मंज़िला मकान था। केदारनाथ सरीन खत्री थे। अत: इसे 'सरीनों का घर' कहा जाता था। यह मकान दो रुपये मासिक किराए पर ले स्थायी रूप से वहाँ पाठशाला खोल दी।[9] फिर जीवन-पर्यन्त पाठशाला वहीं रही। यहाँ अपनी युगान्तरकारी अद्वितीय पाठशाला खोलकर दण्डीजी ने न केवल इस भवन को अमर कर दिया अपितु मथुरा नगरी को भी गौरवान्वित किया। देवेन्द्र बाबू ने सच लिखा है कि "यद्यपि यह मकान न तो आकार ही में और न संगठन ही में और न शिल्पकारी ही में रमणीय व चित्ताकर्षक है तथापि वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के प्रसंग में, भारत के धर्मसंशोधन के इतिहास में यह मकान चिरस्मरणीय रहेगा।"[10] आज भी मथुरा का नाम सुनते ही इस पाठशाला को

स्मरण कर असंख्य नेत्र अनायास आभार एवं श्रद्धा से सजल हो जाते हैं।

अब दण्डीजी ने निश्चिन्त होकर अध्यापनार्थ सेवकादि की व्यवस्था कर ली। वे छात्रों से कभी दक्षिणा एवं शुल्कादि नहीं लेते थे। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुरूप विद्यादान पूर्णतया निःशुल्क था। निर्धन विद्यार्थियों के लिए पुस्तकों की व्यवस्था भी करवा देते थे। पाठशाला आय के लिए नहीं थी। श्रद्धालुजन स्वतः ही कुछ भेंट कर जाते थे। वैसे अलवर नरेश विनयसिंह, जयपुर के महाराजा रामसिंह तथा भरतपुर के अधिपति बलवन्तसिंह श्रीसेवा में नियमित रूप से कुछ धनराशि भेजते थे[11] जिससे सारा व्यय सहज हो जाता था। यूँ स्वाभिमानी दण्डीजी न स्वयं भिक्षार्थ जाते, न अपने छात्रों को ही भिक्षुक मानते। सर्वसहायक प्रभु के सिवाय किसी की दया पर आश्रित रहना उनके स्वभाव में ही नहीं था।

अभी दण्डीजी को इस घर में विराजमान हुए एक महीना पूरा नहीं हुआ था, चौथा सप्ताह चल रहा था कि एक रोचक घटना घटी। एक दिन केदारनाथ खत्री बिना किसी पूर्व अनुमति अथवा सूचना के आ गए।

पदचाप सुनकर दण्डीजी ने पूछा — कौन है ?

मालिक मकान — खत्रीजी के मुँह से निकला।

ख़बरदार ! मालिक मकान तो मैं हूँ। तू तो इसकी कमाई खाता है। भटियारे की तरह है — दण्डीजी बोले।

महाराज ! आप इस मकान के ही नहीं, मेरे सभी घरों के स्वामी हो। लगभग पचास हजार रुपये की इस सम्पत्ति के मालिक हो — ऐसा निवेदन कर खत्रीजी चले गए।

कहीं किसी चोर-उचक्के अथवा अपरिचित व्यक्ति के प्रवेश की आशंका दण्डीजी को न हुई हो — इस कारण अनायास मालिक मकान खत्रीजी के मुँह से निकल गया था। गर्वपूर्ण वक्तव्य उनका आशय नहीं था। अतः खत्रीजी का परेशान होना स्वाभाविक था। वे उस दिन भोजन भी न कर सके। दण्डीजी के विशेष कृपापात्र नयनसुख जड़िया से जा सारी बात कह सुनाई और अपनी भूल के लिए दण्डीजी से क्षमा दिलवाने की प्रार्थना की। अगली प्रातः होते ही खत्रीजी पुनः जड़ियाजी से मिले।

पूछा — दण्डीजी ने मेरे विषय में क्या कहा ?

काफी कुछ कहा — जड़िया ने उत्तर दिया।

तो भी क्या कहा? खत्रीजी ने चिन्ता से पूछा।

यही कि लाला बावला है — जड़ियाजी बोले।

यह जानकर खत्रीजी को चैन मिली कि दण्डीजी उसे न धनाभिमानी मानते हैं, न ही हृदय से अप्रसन्न हैं। केवल बावला समझते हैं। जड़ियाजी ने उन्हें श्रीसेवा में उपस्थित होने की सलाह दी परन्तु वे साहस न बटोर सके और कहने लगे — अब निष्प्रयोजन न जाया करूँगा। राजा जोगी अगन जल, थोड़ी राखै प्रीत।

तीन-चार दिन बीत गए। अभी महीना पूरा होने में एक दिन शेष था। दण्डीजी ने एक शिष्य के हाथ किराये के दो रुपये भेज दिए। खत्रीजी ने लेने से बहुत इनकार किया परन्तु शिष्य भी दण्डीजी का आदेश पालन कर के ही माना। खत्रीजी उस छात्र से भी पहले दण्डीजी की सेवा में पहुँच गए। अभिवादन के पश्चात् निवेदन किया —

महाराज! ये दो रुपये सेवक के पास क्यों भेजे?

मासिक किराए के लिए।

क्या मालिक मकान भी किराया देते हैं?

अवश्य। किराया न दें तो मालिक मकान कैसे हुए?

अब मेरे लिए क्या आदेश है?

किराया ले लो।

इसे मैं अपना अपमान समझता हूँ।

किराया न देना मैं अपना अपमान मानता हूँ।

महाराज! इस नाराज़गी का कारण?

मालिक मकान।

महाराज! इस मकान की आपके नाम रजिस्ट्री करवा दूँ ताकि इसे बेचने तथा गिरवी रखने के सर्वाधिकार आप के पास हों।

इसे मैं किराया न लेने से भी अधिक अपमानजनक समझता हूँ। बस, किराया ले लो, नहीं तो कल मुझे इस मकान में न देखोगे।

बेचारे केदारनाथ को न चाहते हुए भी दो रुपये लेने पड़े। साधु से कौन लोहा ले? फिर दण्डीजी अन्तिम सांस तक इसी घर में रहे। इसी सौभाग्यशाली घर में उन्हें अपना मानसपुत्र दयानन्द प्राप्त हुआ।

आरम्भ में दण्डी ज्री को छह-सात महीने सुपात्र शिष्य न मिल पाए। इसके

कई कारण थे। दण्डीजी पहले नए विद्यार्थी की मेधा की परीक्षा लेते थे, फिर उसे अभिवादन करना सिखाते। कुछ विद्यार्थी मन्द बुद्धि थे। ऐसा ही एक विद्यार्थी लगातार तीन दिन तक सिखाने पर भी अभिवादन करना न सीख पाया। प्रणाम को परणाम ही बोलता रहा। फिर पूरा दिन अभ्यास करने पर भी गरुड़ गोविन्द को गड़र गोविन्द कहता रहा। दण्डी जी उच्चारण पर विशेष ध्यान देते थे। अतः ऐसे विद्यार्थी के लिए पाठशाला में ठहरना सरल नहीं था। इधर दण्डी जी भागवतपुराण को व्यासकृत नहीं मानते थे क्योंकि यह व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों, ऋषि निन्दा तथा अन्तर्विरोधों से भरा पड़ा है। योगीराज कृष्ण के निष्कलंक जीवन पर भागवतपुराण में आरोपित अश्लील प्रेमालाप उन्हें असह्य था। भागवत और मूर्तिपूजा के खण्डन के कारण मथुरावासी पण्डित प्रायः दण्डी जी के प्रति श्रद्धा-शून्य थे। अतः वे पाठशाला के कार्य में रोड़े अटकाते रहते थे। पण्डित मण्डली कभी उनकी अवहेलना करती तो कभी उनकी विद्वत्ता की थाह लेने का प्रयास करती। इस हेतु ब्रजभूमि के इन पण्डितों ने युगलकिशोर गौड़, जगन्नाथ (जग्गो) चौबे, दामोदरदत्त सनाढ्य, चिरंजीलाल आदि अपने योग्य विद्यार्थियों को कठिन प्रश्न सिखाकर भेजना शुरू किया परन्तु परिणाम पण्डितों की आशा के विपरीत निकला। वे दण्डीजी के व्याकरण-ज्ञान, सरल सुबोध व्याख्या, अध्यापन-शैली एवं लगन से ऐसे प्रभावित हुए कि पहले गुरुओं को छोड़कर दण्डीजी से ही पढ़ने लग गए। बस, धीरे-धीरे दण्डीजी की कीर्ति फैलने लगी, पाठशाला लोकप्रिय हो गई और छात्र-संख्या बढ़ने लगी। दण्डी जी प्रायः दण्डीघाट आते-जाते रहते थे। वहाँ भी प्रातःकाल छात्रों को पढ़ा दिया करते थे।

पाठशाला में मुख्यतया सिद्धान्तकौमुदी, शेखर,चन्द्रिका, मनोरमा, न्याय, अमरकोश आदि पढ़ाए जाते थे। अभी अष्टाध्यायी का अध्यापन-विशेष प्रारम्भ नहीं हुआ था। हरिद्वार, काशी, गया आदि स्थानों पर रहने के कारण दण्डीजी का उच्चारण अति शुद्ध था। वे उच्चारण-शुद्धता पर बहुत बल देते थे। पढ़ाने का क्रम प्रातः स्नान-ध्यानादि से निवृत्त होकर सायंकाल तक और कभी-कभी रात्रि के नौ बजे तक चलता रहता था। जब तक कोई विद्यार्थी पढ़ना चाहता, उसे पढ़ाते रहते थे। न कभी आलस्य करते, न थकते।

तब संस्कृत पाठशालाओं में प्रतिपदा (पक्ष का प्रथम दिन) को नहीं पढ़ाते थे परन्तु दण्डीजी की पाठशाला में प्रतिपदा को भी पढ़ाया जाता था। एक बार

प्रतिपदा के दिन पुरुषोत्तम चौबे को उन्हें पढ़ाते देखकर एक पण्डितजी बोले — दण्डीजी! प्रतिपदा को क्यों पढ़ाते हो? इस दिन की पढ़ाई विद्या तो नष्ट हो जाती है। वाल्मीकि रामायण में हनुमान्जी का वचन है कि माता सीता ऐसी शिथिल दिखाई देती थी जैसे प्रतिपदा के दिन पढ़ाई हुई विद्या।
दण्डीजी बोले — ऋषि वाल्मीकि ऐसी अनर्गल बात कभी नहीं लिख सकते। उन्होंने तभी पुरुषोत्तमलाल चौबे से रामायण मंगवाई। उसके सुन्दरकाण्ड में लिखा था —

उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः।
ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम्।। ।। 15.19 ।।

अर्थात् उपवास के कारण पतली, दीन तथा बार-बार श्वास छोड़ती हुई सीता को शुक्ल पक्ष के प्रारम्भिक स्वच्छ चन्द्र के समान देखा।

तस्य सन्दिदिहे बुद्धिस्तथा सीतां निरीक्ष्य च।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ।। 15.38 ।।

अर्थात् सीता को देखकर उसकी बुद्धि सन्देहयुक्त हो गई जैसे वेदों से हीन विद्या शिथिल मानी जाती है।

प्रज्ञाचक्षु स्वामी यह जानकर अति प्रसन्न हुए कि रामायण में प्रतिपदा को पढ़ाने का निषेध नहीं है।

1859 ई. का वर्ष दण्डी जी के जीवन में विशेष महत्त्व रखता है। इस वर्ष **अजाद्युक्तिः** पद के समास पर दूरगामी प्रभाव डालने वाला विवाद हुआ। भारतीय इतिहास में यह ऐसा समय था जब धर्म के नाम पर अन्धविश्वासों, कुप्रथाओं एवं रूढ़ियों ने राष्ट्र को ग्रस लिया था। जिसे समाज की बेड़ियाँ काटनी चाहिएँ थीं, दुर्भाग्यवश वही विद्वत्-समुदाय समाज की जंजीरें कसने पर लगा हुआ था। जनसाधारण के लिए एक-एक संस्कृत शब्द **बाबावाक्यं प्रमाणम्** था। वेदादि सत्-शास्त्र लुप्त हो चुके थे। अष्टाध्यायी के आसन पर सारस्वत, कौमुदी, मनोरमादि विराजमान थीं। धरतीतल के किसी भी विद्वान् के मनो-मस्तिष्क में आर्षग्रन्थों को अनार्षग्रन्थों के अम्बार में से खोज निकाल अलग करने का विचार अंकुरित नहीं हुआ था। ऐसे कुसमय में मथुरा में एक विलक्षण साधु प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती विराजमान था। अष्टाध्यायी में उसकी श्रद्धा थी। वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों में अत्यधिक आस्थावान् था। पुराणों में आस्था का अभाव था। भागवत महापुराण[12] की तीव्र

आलोचना करता था, वह भी वैष्णवों के गढ़ मथुरा में। मथुरा विद्यानगरी ही नहीं, धन-वैभव से भी भरी पड़ी थी। पुराणों के खण्डन से पण्डितों को अपना धन्धा चौपट होने की आशंका हुई। यूँ मथुरावास से पूर्व ही कई पण्डित उनके विचारों से परिचित थे। उनके लिए नि:सन्देह यह असह्य था कि उनके अपने घर में ही कोई उनकी मान्यताओं का खण्डन करे। भागवत-पाठी एवं कौमुदी के अध्यापकों के अरिदल से न भागवत का मण्डन हुआ और न ही अष्टाध्यायी का विरोध। बस, प्रचार शुरू कर दिया कि यह सब धर्मग्रन्थों की निन्दा करता है और धर्मशास्त्रों से भिन्न पोथी (अष्टाध्यायी) पढ़ाता है।

इन भागवत तथा कौमुदी पढ़ने-पढ़ाने वाले पण्डितों ने 1859 ई. में दण्डीजी पर अवहेलना एवं निन्दा का ब्रह्मास्त्र चलाया। उनके प्रति अनाप-शनाप बोलने लगे — यह दण्डी तो जुलाहा है। यह अन्धा जात का छीपा है।[13]

अरे, यह कोट पहनता है। यह पाजामा पहनता है।

यह गेरुए वस्त्र धारण नहीं करता। अन्धा दण्डी नास्तिक है।

जितने मुँह, उतनी बातें। पूर्णतया असत्य एवं निराधार प्रचार। ओछे हथियार के प्रहार का घाव भले ही गहरा न हो परन्तु यह पीड़ा कहीं अधिक देता है।

नए विद्यार्थियों को रोकने के सब प्रयत्न किए गए। सेठ गोवर्धनदास के गौघाट वाले मन्दिर में उदयप्रकाश भागवत कथा किया करते थे। सेठ जी उन्हें पर्याप्त दक्षिणा तो देते ही थे, मन्दिर भी भेंट करने को उद्यत थे। सेठ जी ने पण्डित जी से कहा, आपने भागवत-निन्दक नास्तिक अन्धे दण्डी से पढ़ना शुरू करके अच्छा नहीं किया। आप पढ़ना ही चाहते हो तो मैं काशी से पण्डित बुलवा दूँ। उदयप्रकाश बोले, आप दण्डी जी को नहीं समझ सकते। इस जन्म में दण्डी जी के सिवाय मेरा कोई अध्यापक नहीं हो सकता।[3ग]

दण्डीजी शान्तभाव से निश्चल सब कुछ सहन करते रहे। धीरे-धीरे उनके आलोचक उनके श्रद्धालु बन गए। अन्धविश्वासों, रूढ़ियों व अनार्षग्रन्थों के विरुद्ध संघर्षरत यह महामानव कालान्तर में युग-निर्माता सिद्ध हुआ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 55; भीमसेन शास्त्री, विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 40 पाद टिप्पणी, 46; J.T.F. Jordens, Dayananda Sarasvati, p. 36; पण्डित सुधाधरदेव के पुत्र कृष्णदेव शर्मा से लेखक का मथुरा में साक्षात्कार, 18 नवम्बर, 2001

2. वृन्दावन से लिखा यह पत्र 'वेदवाणी' तथा 'टंकारा पत्रिका' में मार्च 1960 में अशुद्ध

छपा है। मूल पत्र इस प्रकार है —

'' ॥ श्रीराम जी ॥

॥ सिद्ध श्री मथुराजी सुभरस्थाने दंडि स्वामीजी जोग्य लिखि श्री व्रंदावन ते सुकुलजी विहारिलाल जी व कीसोरिलालजी के नमोनारायण बंचने जी अपरं च आप के पास आदिमी भेजे हे सो आप आदिमी के साथ जरूर आओगे आजुइ आओगे जरूर ॥

संवत् १९०८ मीति मार्ग सुदि १२''

मूल पत्र की छाया प्रति के लिए द्रष्टव्य: नन्दलाल चतुर्वेदी, कविरत्न नवनीत, पृष्ठ 53; नन्दलाल ने इसे भूल से दण्डी स्वामी का पत्र लिखा है, वस्तुत: यह दण्डीजी के नाम पत्र है।

3. मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, (क) पृष्ठ 29-30, (ख) पृष्ठ 1-5,8, पण्डित मुकुन्ददेव ने मथुरावासी पैन्तीस-छत्तीस जन्मना ब्राह्मणों के गौत्र, आवास स्थान, आयु , शिष्य संख्या तथा उन द्वारा पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों के विषय में रोचक विवरण लिखा है (वही, पृष्ठ 1-5), (ग) पृष्ठ 96-97

4. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ ८८-८९; मथुरा निवासी प्रभुदयाल मीतल का भी यह मत है (मथुरा में दंडी विरजानंद जी का विद्यालय और स्वामी दयानंद की शिक्षा-दीक्षा, पृष्ठ 8)।

5. वेदवाणी, मार्च 1960, पृष्ठ 12

6. कंस का वध करने के बाद जहाँ योगीराज कृष्ण ने विश्राम किया, वहाँ गतश्रम-नारायण के नाम से मन्दिर बनवाकर अवागढ़ नरेश ने अपने गुरु प्राणनाथ आचार्य को भेंट किया था। आचार्यजी ने सिद्धान्तकौमुदी की प्राणनाथी टीका लिखी थी। प्रसादीलाल उन्हीं प्राणनाथ के भाई इन्द्रमन शास्त्री के नाती थे। हरविलास शारदा ने भूल से इस मन्दिर को कहीं ब्रह्मनारायण मन्दिर और कहीं गौतमनारायण मन्दिर लिखा है।

7. **पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि अन्नं तोयं सुभाषितम् । मूर्खैः पाषाणखण्डेषु रत्नता परिकल्पिता।**

8. **जिह्वे त्वं कुरु मर्य्यादां भोजने भाषणे तथा।**

9. पाठशाला सम्बन्धी अधिक जानकारी के लिए द्रष्टव्य: परिशिष्ट 1

10. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 56

11. राजा रामसिंह तथा राजा विनयसिंह आठ आना प्रतिदिन की दर से पाठशाला के लिए धन भेजते थे।

12. वैष्णव मतावलम्बी 12 स्कंध, 335 अध्याय तथा 18 हजार श्लोकों के इस भागवत पुराण को महापुराण मानते हैं। यह सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध पुराण है। वैसे पुराणों के क्रम में इसका पाँचवां स्थान है। दयानन्द सरस्वती इसे तेरहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। पुणे प्रवचन में स्वामी दयानन्द ने कहा था — ''विरजानन्द स्वामी ... भागवत आदि पुराणों का तो बहुत ही तिरस्कार करते थे।''

13. इस भ्रम में फंसकर भीमसेन शास्त्री ने दण्डी जी के पूर्वजों के गंगापुर निवास के विषय में लिख दिया कि वहाँ ''साथ में शालुओं की छपाई का काम भी होता था (विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 2)।'' यह लेख पूर्णतया निराधार एवं तथ्यों के विपरीत है।

1857 की क्रान्ति

उन दिनों भारतवर्ष धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से पूर्णतया विभाजित तथा दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। अनेक मत-मतान्तरों में बंटा हुआ हिन्दू-समाज अपने-अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता का राग अलाप रहा था। भयंकर जातिवाद ने सामाजिक एकता नष्ट कर दी थी। अज्ञान, अविद्या, अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों ने डेरा डाल रखा था। भुखमरी और निर्धनता से जनता पीड़ित थी। सर्वत्र अकाल की छाया थी। कभी ढाका की मलमल के लिए प्रसिद्ध इस देश में असंख्य देवियों एवं पुरुषों को लाज ढकने के लिए वस्त्र नसीब न था। देश में छोटी-बड़ी अनेक रियासतें थीं जिनके शासक अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए अंग्रेज़ की भक्ति में लगे हुए थे। दिल्ली का बादशाह बहादुरशाह ज़फर प्रभावहीन था। दीन-हीन तड़पती प्रजा के हितार्थ किसी शासक का दिल पसीज नहीं रहा था।

ऐसे विकराल समय में एक वर्ग पराधीनता की पीड़ा अनुभव कर रहा था। वह अंग्रेज़ी शासन से मुक्ति चाहता था। इसी का परिणाम 1857 ई. की ऐतिहासिक क्रान्ति थी।[1] कुछ लेखक इस संघर्ष में दशनामी संन्यासियों (तीर्थ, आश्रम, सरस्वती, भारती, पुरी, गिरि, पर्वत, सागर, वन तथा अरण्य) की सक्रिय भूमिका मानते हैं। 'योगी का आत्मचरित्र' शीर्षक से छपी ऋषि दयानन्द की जीवनी[2] में वर्णित अपुष्ट घटनाओं को भवानीलाल भारतीय,[3] जॉर्डन्स[4] तथा उनके शिष्य थ्वाएतस[5] आदि लेखक पूर्णतया निराधार मानते हैं और इस क्रान्ति में स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगदान के विषय में सहमत नहीं हैं। ऋषि दयानन्द की आत्मकथा 1856 ई. पर आकर रुक जाती है। अगले तीन वर्षों का विवरण उपलब्ध नहीं है परन्तु सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में ऋषि दयानन्द की 1857 ई. की क्रान्ति के विषय में निम्नलिखित टिप्पणी उनकी मनोभावना को दर्शाती है —''जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्त्तियां, अंग्रेज़ों नें उड़ा दी थीं तब मूर्त्ति कहाँ गई थीं। प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े शत्रुओं को मारा परन्तु मूर्त्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते।'' अंग्रेज़ी शासन में काठियावाड़ के बाघेर लोगों[6] की वीरता

की प्रशंसा तथा अंग्रेज़ों के धुर्रे उड़ाने की कामना कोई बाग़ी फ़कीर ही कर सकता है। दयानन्द सरस्वती ने अष्टम समुल्लास में तो यहाँ तक लिखा है — "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वेपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

सर्वप्रथम पृथ्वीसिंह मेहता[7] ने इस संग्राम में ऋषि दयानन्द के योगदान की सम्भावना प्रकट की थी, जिसकी सत्यकेतु विद्यालंकार[8] ने पुष्टि की है। वे इस समर में न केवल स्वामी दयानन्द अपितु उनके भावी गुरु दण्डी विरजानन्द की भूमिका स्वीकारते हैं। दण्डी स्वामी विरजानन्द का प्रभाव-क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था। पृथ्वीसिंह मेहता का उनके विषय में यह कथन सत्य है कि "1814-15 में अंगरेजों से जमकर मुकाबला करने वाले हाथरस, मुरसान आदि के जमींदारों से तथा अलवर, भरतपुर, करौली, गवालियर, जयपुर आदि के राजाओं से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था उनमें से एक दो को उसने राजनीति धर्म और दर्शन (महाभारत शान्तिपर्व, राजधर्म प्रकरण, मनुस्मृति आदि) का अध्ययन कराके प्रबोध कराने का जतन किया था।"[9]

स्वामी विरजानन्द सरस्वती के जीवनी-लेखकों में सर्वप्रथम वेदानन्द सरस्वती ने 1954 ई. में लिखा था कि "आज मुक्त ऐतिहासिक मुक्त-कण्ठ से कहते हैं कि विरजानन्द तथा उनके गुरु पूर्णानन्द सरस्वती ने इस संग्राम को आरम्भ कराया था। ... संवत् १९१४ वि. (१८५७ ई.) के स्वातन्त्र्य संग्राम में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था, वे सबके सब विरजानन्द के शिष्य थे।"[10] स्वामी वेदानन्द ने अपने इस अनुमान की पुष्टि में कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। अत: केवल अनुमान के आधार पर यह लेख स्वीकार्य नहीं है।

वर्षों बाद जिला मुजफ्फरनगर (उत्तरप्रदेश) के सोरम ग्राम की सर्वखाप पंचायत के उर्दू में लिखे पाए गए दस्तावेज़ में 1856 ई. में मथुरा के जंगल में हुई पंचायत का वर्णन मिलता है। मीर मुश्ताक मीर इलाही मीरासी का लिखा हुआ यह दस्तावेज़ इस पंचायत के अवरकालीन महामन्त्री चौधरी कबूलसिंह ने 1969 ई. में 'आर्यमर्यादा' के सम्पादक को दिया था जो उस पत्रिका में हिन्दी रूपान्तर सहित छापा गया था।[11] इसकी प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए भवानीलाल भारतीय ने इसके वैज्ञानिक परीक्षण पर बल दिया है।[3]

सत्यकेतु विद्यालंकार, पण्डित उदयवीर शास्त्री, पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक आदि ने इस दस्तावेज़ को महत्त्वपूर्ण मानते हुए इसे स्वग्रन्थों एवं लेखों में उद्धृत किया है।[12] इसका देवनागरी रूपान्तर इस प्रकार है[13] —

''बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम[14]

सन् 1856 बमुताबिक सम्वत् 1913 को एक पंचायत मथुरा के तीर्थगाह पर मुनअकद हुई। उसमें हिन्दू मुसलमान और दूसरे मज़हब के लोगों ने शिर्कत की थी। इस पंचायत में एक नाबीना (नेत्रहीन) हिन्दू दरवेश को लाया गया था एक पालकी में बैठाकर। उनके आने पर सब लोगों ने उनका अदब (आदर) किया। जब यह एक चौकी पर बैठ गया तब हिन्दू मुसलमान फ़क़ीरों ने इनकी क़दमबोसी (चरण चुम्बन) की। इसके बाद सब हाज़िरीन (उपस्थित गण) पंचायत ने उनका अदब किया। सब के अदब के बाद नाना साहब पेशवा, मौलवी अजीमुल्ला खान, रंगू बाबू और शहंशाह बहादुरशाह का शहज़ादा इन सब ने इनके अदब में कुछ सोने की अशर्फ़ियाँ पेश कीं। इसके बाद एक हिन्दू एक मुसलमान फ़क़ीर ने यह कहा कि हमारे उस्ताद की जुबान-ए-मुबारक (मांगलिक वाणी) से जो तकरीर (भाषण) होगी, उसे तसल्ली के साथ सब साहिबान सुनें और वह मुल्क के लिए बहुत मुफ़ीद (लाभदायक) साबित होगी और यह वली अल्लाह साधु बहुत जुबानों का आलिम (विद्वान्) और हमारा और हमारे मुल्क का बुज़ुर्ग है। ख़ुदा की मेहरबानी से ऐसे बुज़ुर्ग हमें मिले, यह ख़ुदा का हम पर बड़ा अहसान है।

दरवेश की तकरीर का आगाज़ — सबसे पहले उन्होंने ख़ुदा की तारीफ़ की और फिर उर्दू में उसका तर्जुमा (अनुवाद) किया। इस बुज़ुर्ग ने यह कहा था कि आज़ादी जन्नत है और गुलामी दोजख़ है। अपने मुल्क की हकूमत गैर-मुल्की हकूमत के मुक़ाबले में हजार दर्जे बेहतर है। दूसरों की गुलामी हमेशा बेइज्जती और बेशर्मी का बायस (कारण) है। हमें किसी कौम से और किसी मुल्क से कोई नफ़रत नहीं है, हम तो ख़ल्क़े ख़ुदा की बहबूदी के लिये ख़ुदा से रोज़ दुआ मांगते हैं। मगर हुकमरान कौम खासकर फिरंगी जिस मुल्क में हकूमत करते हैं उस मुल्क के बाशिन्दों के साथ इन्सानियत का बरताव नहीं करते और कितनी भी अपनी अच्छाई की तारीफ़ करें मगर उस मुल्क के बाशिन्दों के साथ मवेशियों से गिरा हुआ बरताव करते हैं। ख़ुदा की खलकत में सब इन्सान भाई भाई हैं, मगर गैर-मुल्की हुकमरान कौम इन्हें भाई न समझकर

गुलाम समझती है। किसी भी मज़हब की किताब में ऐसा हुक्म नहीं है कि अशरफ़ुलमख्लूकात[15] के साथ दग़ा की जावे और अल्लाह के हुक्म के ख़िलाफ़वर्ज़ी की जावे। इस वास्ते मातहत लोगों का न कोई ईमान है न कोई उनकी शान है। फिरंगियों में बहुत-सी अच्छी भी बातें हैं, मगर सियासी मसले में आकर वह अपने क़ौलोफ़ेल (कथन और कर्म) को न समझकर फ़ौरन बदल जाते हैं और हमारी अच्छाई और नेक सलाह को फ़ौरन ठुकरा देते हैं। इसकी असल वजूहात (वास्तविक कारण) यह है कि हमारे मुल्क को वह अपना वतन नहीं समझते हैं। हमारे मुल्क का बच्चा बच्चा उनकी ख़ैरख़्वाही (शुभेच्छा) का दम भरे, फिर भी अपने वतन के कुत्ते को हमारे इन्सानों से अच्छा समझते हैं।[16] यही सब कमी का बायस है। इन्हें अपने ही वतन से मुहब्बत है। इसलिये मैं सब बाशिन्दगान-ए-हिन्द (भारतवासियों) से इल्तिजा (निवेदन) करता हूँ कि जितना वह अपने मज़हब से मुहब्बत करते हैं, उतना ही इस मुल्क के हर इन्सान का फ़र्ज़ (कर्तव्य) है कि वह वतन-परस्त बने और मुल्क के हर बाशिन्दे को भाई भाई जैसी मुहब्बत करे। जब तुम्हारे दिलों के अन्दर वतन-परस्ती आ जाएगी, तो मुल्क की गुलामी यहाँ से खुद-ब-खुद (स्वयं) जुदा हो जाएगी। हिन्द के रहने वाले सब आपस में हिन्दी भाई हैं और बहादुरशाह हमारा शहंशाह है।

तस्नीफ़ करदह (लिखने वाला) मीर मुश्ताक मीरासी, कासिद सर्वखाप पंचायत

नोट — महात्मा संन्यासी का नाम मालूम किया, तो इनका नाम सुवामी विरजानन्द था और बहुत अरसे से मथुरा में रहते हैं और संस्कृत की तालीम देते हैं और अल्लाहताला के मौतकिद (ईश्वर विश्वासी) हैं।

सम्वत् 1913 विक्रमी में यह पंचायत दूर दराज़ जंगल में की गई थी और शुरू भादों का माह था। यह पंचायत चार रोज तक मुतवातर होती रही। पहले दिन आने वाले सब मेहमानों की एक-दूसरे से मुलाकात कराई गई थी। दूसरे दिन हज़रत आदम से लेकर हज़रत मुहम्मद रसूल अल्लाहे सल्लाहो अलेहवसलम[17] तक सवानेह उमरी (जीवनी) सुनाई गई। तीसरे दिन राम किरशन और महात्मा बुद्ध और शंकराचार्य महावीर स्वामी अनेक ऋषि और मुनि और राजा-महाराजाओं के ज़िन्दगी के दास्तानों पर रोशनी डाली गई और गैर-मुल्की वतनपरस्ती और ख़ुदापरस्तों की याद दिलाई गई। चौथे दिन नाबीना संन्यासी महात्मा विरजानन्दजी और मुसलमान साईं मियां महमूदन शाह ने शुरू

में विरजानन्दजी की तकरीर से पहले शुरुआत की। आज के दिन तकरीर में ख़ास-ख़ास लोगों की जमायत थी और ख़ुफ़िया सरकारी आदमी इसमें नहीं था। नाबीना महात्मा की तकरीर बहुत ही पुरजोर थी और हर मज़हबी इल्म से ताल्लुक रखती थी और डेढ़ घण्टे तक तकरीर होती रही। मैंने इनकी तकरीर के ख़ास-ख़ास अलफ़ाज (शब्द) तहरीर किए हैं, बाकी उन्होंने हर पहलू पर रोशनी डाली थी। जब महात्मा विरजानन्द को पालकी में बैठाकर लाया गया, उस वक्त हिन्दू मुसलमान फ़क़ीरों ने उनकी खुशी में शंख, घड़नावल, नागफणी, निगाड़ा, तुरही और नरसिंघे बजाए थे और ख़ुदापरस्ती और वतनपरस्ती के गीत गाए थे। यह नाबीना साधु हर इल्म के समझने की ताकत रखता था और ख़ुदा के जलवे जलाल इसकी जुबान से ज़ाहिर होता था। मैंने भी अपनी रूह के तक़ाज़े के मुताबिक पाँच फूल इनके सामने पेश किए , उनकी क़दमबोसी की और ख़ुदा से दुआ मांगी कि ख़ुदा ऐसी नेक रूहों (पवित्र आत्माओं) को खलकत की भलाई के लिये हमेशा पैदा कीजिए।

तस्नीफ़ करदह मीर मुश्ताक मिराह।''

स्वामी विरजानन्द विदेशी शासन और अनार्षग्रन्थों के प्रचार को देश की दुर्दशा का कारण मानते थे। इस दशा को देखकर वे न केवल दुखी थे अपितु उसे बदलने के लिए प्रयत्नशील भी थे। इस की पुष्टि उनके मथुरा निवासी शिष्य नवनीत कविवर की दण्डीजी विषयक कवित्त[18] से होती है। कविवर की निम्नलिखित पंक्तियाँ अति स्पष्ट एवं विशेष महत्त्वपूर्ण हैं —

सम्प्रदायवाद वेद विहित विवर्जित पै
सासन विदेशिन कौ नासन प्रचण्डी ने ।
गोरे के अगारी ही उद्दण्ड भै उठाय दण्ड
चण्ड ह्वै प्रतिज्ञा करि प्रज्ञाचक्षु दण्डी ने ।। ६ ।।

अर्थात् 'वेदविहित से भिन्न सम्प्रदायों का खण्डन किया।[19] प्रचण्ड संन्यासी ने विदेशी शासन के नाश के लिए गोरे शासक से उद्दण्ड हो डण्डा उठा लिया। प्रज्ञाचक्षु दण्डी ने इस विदेशी शासन को नष्ट करने की प्रचण्ड प्रतिज्ञा की।'

स्वामी विरजानन्द सरस्वती अंग्रेज़ी शासन के विरोधी थे — इसका इससे अधिक अकाट्य और क्या प्रमाण हो सकता है?

1857 ई. में राष्ट्र का स्वाभिमान जागृत हुआ। कई प्रान्तों में क्रान्ति की पवित्राग्नि धधक उठी। मेरठ के आसपास के लोगों ने इतिहास में अपना नाम

अमर कर लिया। कुछ देसी रियासतों के सत्तालोलुप राजाओं एवं स्वार्थी तत्त्वों के कारण यह क्रान्ति सफल न हो पाई। प्रशासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी से निकलकर इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी विक्टोरिया के अधीन हो गया। उसने क्रान्ति के कारणों पर विचारकर भारतीयों के धर्म में हस्तक्षेप न करने की घोषणा की और लॉर्ड केनिंग को यहाँ अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. द्रष्टव्य : सुन्दरलाल, भारत में अंगरेज़ी राज, तीसरी जिल्द, पृष्ठ 1352-1708

2. दीनबन्धु वेदशास्त्री, योगी का आत्मचरित्र, पातंजल योग साधना संघ, रोहतक; यह 'महर्षि दयानन्द की अज्ञात जीवनी' शीर्षक से सार्वदेशिक पत्रिका में 5 जनवरी,1969 से 8 नवम्बर,1970 तक छियासठ किस्तों में प्रकाशित हुई थी।

3. भवानीलाल भारतीय, नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 38-46

4. J.T.F. Jordens, Dayananda Sarasvati, pp. 335-37

5. R. Thwaytes, Dayanand Saraswati and the Sepoy Revolt of 1857

6. काठियावाड़ के बाघेरों के विषय में जानकारी हेतु द्रष्टव्य: क्षितीशकुमार वेदालंकार, चयनिका, पृष्ठ 298-299

7. पृथ्वीसिंह मेहता, हमारा राजस्थान, पृष्ठ 265-280; तुलना : वासुदेव शर्मा, अठारह सौ सत्तावन और स्वामी दयानन्द; ज्ञानी पिण्डीदास, 1857 के स्वातन्त्र्य संग्राम में स्वराज्य प्रवर्तक महर्षि दयानन्द का क्रियात्मक योगदान

8. सत्यकेतु विद्यालंकार, आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 688-706

9. पृथ्वीसिंह मेहता, हमारा राजस्थान, पृष्ठ 270; अंग्रेज़ के विरुद्ध 1803 ई. में दिल्ली में सिंधिया की, 1804 ई. में दिल्ली व डीग में होलकर की तथा 1805 ई. में होलकर तथा जाटों की लड़ाइयाँ प्रसिद्ध हैं।

10. स्वामी वेदानन्द, स्वामी विरजानन्द, पृष्ठ 89-90

11. आर्यमर्यादा (हिन्दी सासाहिक, दिल्ली), 12 अक्तूबर, 1969

12. उदयवीर शास्त्री (सम्पादक), श्रीस्वामी विरजानन्द सरस्वती जीवनगाथा (स्वामी वेदानन्द लिखित), पृष्ठ 187-198; भीमसेन शास्त्री, विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 106-109 (पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक लिखित परिशिष्ट 1)

13. कुछ कठिन शब्दों के अर्थ कोष्ठक में दिए गए हैं।

14. शुरू करता हूँ साथ नाम अल्लाह के जो बड़ा कृपालु और दयालु है।

15. सारे प्राणियों में श्रेष्ठतम, मनुष्य

16. तुलना : सत्यार्थप्रकाश के ग्याहरवें समुल्लास में विदेशी जूते का प्रसंग

17. हज़रत मोहम्मद खुदा के दूत हैं, उनपर सतावत और उनके वंशजों पर शान्ति हो।

18. द्रष्टव्य : परिशिष्ट 2, पृष्ठ 148-149

19. अत: स्पष्ट है कि दण्डीजी वेद को प्रमाण मानते थे।

युगान्तर

स्वामी विरजानन्द दण्डी के मथुरा आगमन के समय यह क्षेत्र वैष्णवमत का गढ़ था। इस सम्प्रदाय के लोग श्रीमद्भागवतपुराण को वेद का स्थान देते थे। यहाँ के प्रसिद्धतम धनपति मनिराम सेठ के परिवार का इस सम्प्रदाय को सरंक्षण प्राप्त था। वैष्णव मतावलम्बी धन-बल के सहारे अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। दण्डी जी जैसे विद्वानों को यह सह्य नहीं था। इस प्रसंग में दण्डीजी का उनके साथ व्याकरण विषयक टकराव एक युगान्तरकारी घटना सिद्ध हुई।

गोकुलचन्द पारख[1] के विशेष कृपापात्र रहे मनिराम[2] अपने अपार धन-वैभव के कारण मथुरा के सबसे बड़े सेठ माने जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में मथुरा मनिराम तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचन्द की बैंकिंग संस्थाओं के मुख्यालय के रूप में प्रसिद्ध थी।[3] लक्ष्मीचन्द तो पितृवत् जैनमतावलम्बी रहे परन्तु सेठजी के दोनों छोटे पुत्र राधाकृष्ण और गोविन्ददास, सी.एस. आई., गोवर्धनवासी रंगाचार्य[4] के शिष्य बन वैष्णवमत में दीक्षित हो गए। दोनों भाइयों ने अपने दीक्षा-गुरु के लिए वृन्दावन में 1843 ई. में तीन लाख रुपये की लागत से एक भव्य मन्दिर बनवाया जिसे अब पुराना रंगजी का मन्दिर कहते हैं। उन्हें यह मन्दिर छोटा लगा। तब सात वर्ष (1844-51 ई.) लगाकर पैंतालीस लाख रुपये की लागत से वृन्दावन में एक विशाल मन्दिर बनवाकर स्वगुरु रंगाचार्य को समर्पित किया। इसमें रंगाचार्य की मूर्ति स्थापित की गई। मन्दिर की सेवा के लिए सेठजी ने तेतीस गाँव भेंट किए। इन गाँवों की कुल वार्षिक आय एक लाख सतरह हजार रुपये में से चौंसठ हजार रुपये सरकार को राजस्व देने के पश्चात् बाकी बचा सारा धन मन्दिर में देव-सेवा में लगता था।[5] इस मन्दिर को रंगजी का मन्दिर अथवा सोने का मन्दिर कहते हैं।

जिन दिनों रंगाचार्य समृद्धि एवं सम्मान के चरम शिखर पर थे, तब उनके विद्यागुरु पण्डित कृष्ण शास्त्री[6] वृन्दावन पधारे। कहते हैं कि कृष्ण शास्त्री बून्दी के राजा द्वारा आयोजित सभा में विजयी होने पर सवा लाख रुपये के पुरस्कार से सम्मानित होकर लौटते हुए यहाँ रंगाचार्य तथा सेठजी के अतिथि बने थे। विपुल सम्पत्ति का सहारा लेकर रंगाचार्य तथा उनके दोनों धनाढ्य शिष्य उनकी विद्वत्ता की दुन्दुभि बजाने में जुट गए।

1859 ई. (अप्रैल के आस-पास) की बात है। एक सायं यमुना के विश्रान्त घाट पर आरती के समय दण्डी विरजानन्द के शिष्य गंगादत्त चौबे तथा रंगदत्त चौबे[7] **अजाद्युक्तिः** पद के समास पर विचार-विमर्श कर रहे थे। वे दोनों इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि इसमें षष्ठी तत्पुरुष समास है तथा **अजादेः उक्तिः** (अजादि की उक्ति) विग्रह है। वहाँ उपस्थित सेठ परिवार के ज्योतिषी लक्ष्मण शास्त्री और द्वारिकाधीश मन्दिर के अध्यक्ष मुरमुरिया पण्ड्या[8] ने सप्तमी तत्पुरुष समास घोषित कर दिया तथा इसका विग्रह **अजादौ उक्तिः** (अजादि में उक्त) बताया। व्यंग्य कसते हुए उन्होंने यहाँ तक कह दिया — लगता है भंग पीली है जो षष्ठी तत्पुरुष समास बताते हो। उत्तर मिला — हमने तो नहीं, आपने भंग पी है जो भंग 'पीली' कहते हो। दोनों पण्डित मण्डलियाँ अपने-अपने पक्ष में प्रमाण भी देती रहीं।

गंगादत्त तथा रंगदत्त ने दण्डीजी की सेवा में उपस्थित होकर सारी बात कह सुनाई और **अजाद्युक्तिः** में समास पूछा। दण्डीजी ने षष्ठी तत्पुरुष समास बताया। उधर लक्ष्मण शास्त्री तथा मुरमुरिया पण्ड्या ने अपने नवगुरु कृष्ण शास्त्री से सलाह ली। उन्होंने सप्तमी तत्पुरुष समास बताकर सेठ-आश्रित पण्डितों का समर्थन किया। दण्डीजी ने अपने दोनों शिष्यों को प्रतिवादियों को समझाने भेजा। वे पहले लक्ष्मण शास्त्री को मिले। फिर मुरमुरिया पण्ड्या को साथ लेकर कृष्ण शास्त्री के पास चले गए। दोनों चौबों ने दण्डी जी का नाम लेकर बात कही परन्तु शास्त्रीजी अपने मत पर अड़ गए और दण्डीजी को शास्त्रार्थ के लिए आहूत कर दिया। दण्डीजी झटपट उद्यत हो गए। फिर क्या था! भयंकर शास्त्रार्थ-समर का वातावरण बन गया। शास्त्रार्थ का विषय था -- **अजाद्यतष्टाप्** (अष्टाध्यायी 4.1.4) सूत्र पर सिद्धान्तकौमुदी में लिखी गई पंक्ति **अजाद्युक्तिर्ङीषो ङीपश्च बाधनाय** में प्रयुक्त **अजाद्युक्तिः** पद में समास।

नगर के अनेक पण्डित पहले ही दोनों के मध्य शास्त्रार्थ के पक्षधर थे। वे स्वयं दण्डीजी के समक्ष कहीं ठहरते नहीं थे। अतः कृष्ण शास्त्री को दण्डीजी से भिड़ाना चाहते थे। धीरे-धीरे यह व्याकरण विषयक सामान्य विवाद न रहकर धनपतियों की प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। एक ओर विद्याशूर प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी, दूसरी ओर सेठ-साहूकार एवं मन्दिर-मठ-प्रतिष्ठित गुरु-चेलों का चक्रव्यूह। केवल कृष्ण शास्त्री ही नहीं, सेठ राधाकृष्ण तथा रंगाचार्य सहित कई मन्दिरों के स्वामियों की प्रतिष्ठा दाँव पर लग गई।

दण्डीजी का पक्ष था कि **अजादीनामुक्तिः** (विग्रह) **अजाद्युक्तिः** (अजादि की उक्ति) होने से षष्ठी तत्पुरुष समास स्पष्ट है। कृष्ण शास्त्री सप्तमी तत्पुरुष समास सिद्ध करने के लिए **अजादिषु उक्तिः** (विग्रह) **अजाद्युक्तिः** बतलाते थे। इसका अर्थ हुआ — 'अजादि में उक्ति।' प्रश्न है अजादि में किसकी उक्ति? यदि 'अजादि में अजादि की उक्ति' कहें, तो पुनः षष्ठी तत्पुरुष समास हो गया। अतः कृष्ण शास्त्री समुदाय का चिन्तित होना स्वाभाविक था।

सेठ राधाकृष्ण तथा उनके गुरु रंगाचार्य आदि दण्डीजी के गम्भीर ज्ञान,व्याकरण में निपुणता, अद्भुत स्मरणशक्ति, तीक्ष्ण बुद्धि, प्रत्युत्पन्न मति एवं भाव अभिव्यक्ति की कुशलता से सुपरिचित थे। मथुरा निवास की इस अवधि में कोई पण्डित उन्हें परास्त नहीं कर पाया था। अतः दिल-ही-दिल में वे दण्डीजी को अजेय मानते थे। इसीलिए कृष्ण शास्त्री जैसे मूर्धन्य शास्त्रार्थी को दण्डीजी के विपक्ष में खड़ा करने से घबराते थे। यदि कहीं कृष्ण शास्त्री हार गए तो क्या होगा? इस चिन्ता से वे संतप्त थे। शास्त्रार्थ की चर्चा सर्वत्र फैल चुकी थी। अब इसे टालना भी सम्भव न था। अन्ततः एक उपाय सोचा गया। तय किया कि कृष्ण शास्त्री स्वयं शास्त्रार्थ न करें अपितु उनके प्रतिनिधि के रूप में लक्ष्मण शास्त्री तथा मुरमुरिया पण्ड्या ही विरजानन्द के साथ समर में उतरें। यह समाचार पाकर दण्डीजी ने उत्तर दिया कि उनका शास्त्रार्थ केवल कृष्ण शास्त्री से ही होगा अन्यथा उनके शिष्य गंगादत्त एवं रंगदत्त दोनों पण्डितों से शास्त्रार्थ करेंगे। बच निकलने का यह मार्ग भी अवरुद्ध देख सेठजी बहुत चिन्तित हुए।

सेठजी ने एक और पाँसा फेंका। शर्त रखी कि दोनों शास्त्रार्थी दो सौ- दो सौ रुपये पेश करें। सेठजी का विचार था कि दण्डी स्वामी तुरन्त दो सौ रुपये न भेज सकेंगे। इस प्रकार शास्त्रार्थ टल जाएगा और कृष्ण शास्त्री स्वतः विजयी घोषित हो जाएँगे परन्तु प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी इस शास्त्र-समर के लिए इतने अधीर थे कि उन्होंने अविलम्ब दो सौ रुपये सेठ राधाकृष्ण के पास भिजवा दिए। साथ ही स्पष्ट कर दिया कि शास्त्रार्थ केवल कृष्ण शास्त्री के साथ होगा। यदि शास्त्रीजी उपस्थित न हुए तो वे भी नहीं आएँगे। सेठजी ने एक सौ रुपये अपनी ओर से डालकर कुल पाँच सौ रुपये अपने पास जमा कर लिए। परस्पर सहमति से तय हुआ कि जो विजयी होगा उसे पाँच सौ रुपये का पुरस्कार मिलेगा। दोनों प्रस्तावित शास्त्रार्थियों का हस्ताक्षरयुक्त प्रतिज्ञा-पत्र लिख दिया गया।[९क] गतश्रमनारायण मन्दिर समरभूमि निश्चित हुई और समय सन्ध्याकाल।

निश्चित दिन नगर के लोग प्रातः होते ही गतश्रमनारायण मन्दिर में इकट्ठे होने लगे। दण्डीजी का वास इस मन्दिर के अति निकट था। उन्होंने गंगादत्त चौबे, रंगदत्त चौबे तथा वनमाली चौबे आदि को यह आदेश देकर समय से पूर्व वहाँ भेज दिया कि ज्यों ही कृष्ण शास्त्री पधारें, उन्हें बुला लिया जाए। चौबे वहाँ उपस्थित जनसमुदाय की तरह कृष्ण शास्त्री के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। चौबे विद्यार्थियों ने गुरुजी को शास्त्रीजी की अनुपस्थिति की सूचना दे दी। दण्डीजी ने कहा कि तुम वहीं प्रतीक्षा करो। यदि शास्त्रीजी न आएँ तो मेरा वहाँ आना निष्प्रयोजन है। प्रतीक्षा होती रही। कृष्ण शास्त्री ने न आना था, न ही आए। कुछ देर बाद सेठ राधाकृष्ण उपस्थित हुए और स्वयं शास्त्र-समर के सभापति बन कह दिया कि कृष्ण शास्त्री आने वाले हैं, तब तक दोनों चौबे तथा लक्ष्मण शास्त्री व मुरमुरिया पण्ड्या वार्तालाप आरम्भ करें। गंगादत्त तथा रंगदत्त के न चाहते हुए भी थोड़ी देर दोनों पक्षों में सामान्य प्रश्नोत्तर हुआ। यह शास्त्रार्थ थोड़े ही था, वितण्डा था। बैठते ही लक्ष्मण शास्त्री दण्डीजी के लिए अपशब्दों पर उतर आए। कहने लगे — जोगी मुंडा साधु क्या जाने ? गंगादत्त भी मथुरा के चौबे थे। अपने गुरु का अपमान न सह सके। उतनी ही कटु भाषा में बोले — दग्ध बैल शास्त्र क्या जाने ? यह कटाक्ष रंगाचार्य पर था क्योंकि श्रीसम्प्रदाय के वैष्णव लोग विष्णु के शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिह्नों को अग्नि में तपाकर बाजू के मूल में दाग देते थे। इसी छींटाकशी के मध्य सभामण्डप को गतश्रमनारायण की जय, द्वारिकाधीश की जय ... से गुंजा दिया। उपयुक्त अवसर समझ सेठ राधाकृष्ण ने 'विरजानन्द परास्त हो गए हैं' कहकर घण्टे बजवा दिए। लठमार चौबों में धन (चार-चार रुपये प्रति व्यक्ति) बंटवाना शुरू करवाकर सेठजी सभा-स्थल से चले गए। गंगादत्त तथा रंगदत्त इस अन्याय के विरुद्ध बाहुयुद्ध के लिए तैयार हो गए। बीच-बचाव कर उन्हें शान्त करवाया गया। वैष्णव मतावलम्बी सेठ शैव विरजानन्द को नीचा दिखाकर अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते थे। अतः वे अपने गुरु के गुरु को विजयी घोषित करने के लिए ही सब प्रपंच रच रहे थे परन्तु उपस्थित जन समुदाय की सन्तुष्टि न हुई।

न तो कृष्ण शास्त्री आए, न विधिवत् शास्त्रार्थ हुआ। निर्णायक भी कोई वैयाकरण नहीं अपितु शास्त्रज्ञान से शून्य एक धनपति। अतः सेठ राधाकृष्ण अपने निर्णय का खोखलापन भली-भाँति जानते थे। इसीलिए विजय पुरस्कार स्वरूप पाँच सौ रुपये की राशि पण्डित कृष्ण शास्त्री अथवा स्वाश्रित दोनों

पण्डितों को भेंट करने का साहस न जुटा सके। उन्होंने रामानन्दी तिलकधारी मथुरा के चौबों को चार-चार रुपये देकर दण्डीजी के शिष्यों को विद्याबल से न सही, भुजबल से शान्त कराने का प्रयत्न किया था।

रंगदत्त चौबे और गंगादत्त चौबे ने सारी बात दण्डी जी को जा बताई और कहा कि घोर अनर्थ हुआ है।

दण्डी जी : यह माया रची किसने?

गंगादत्त : सेठ राधाकृष्ण ने।

दण्डी जी : भला, क्यों?

रंगदत्त : बस, सेठ जी अपने गुरु की सहायता करना चाहते हैं।

दण्डी जी : तो क्या अब शास्त्रार्थ कल होगा?

रंगदत्त : महाराज! अब शास्त्रार्थ कहाँ होगा? शास्त्रार्थ करना होता तो आज ही न कर लेते। यह तो कृष्ण शास्त्री की चालाकी थी।

दण्डी जी : लाला केदारनाथ, ऐसा कहीं पहले भी सुना है आपने?

लाला केदारनाथ : महाराज! एक मुन्शी 'साहब' को उर्दू में बड़े शीन से 'शाहब' लिखता था। दूसरे मुन्शी ने साहब से यह शिकायत की। पहले मुन्शी को बुलाया गया। पूछा कि ऐसा अशुद्ध क्यों लिखते हो? बोला, आप बड़े हो, अत: मैं तो आपको बड़े शीन से ही लिखूँगा। साहब उत्तर सुनकर प्रसन्न हो गए। अब ये भी बड़े घर के पण्डित हैं। इसलिए षष्ठी को सप्तमी (एक अंक अधिक) बता रहे हैं।[९ख]

दण्डी जी : लाला जी! बात न रुपयों की है, न जीत-हार की। दु:ख तो यह है कि इन्हें षष्ठी और सप्तमी तत्पुरुष का अन्तर भी ज्ञात नहीं।

केदारनाथ : महाराज! विद्वानों को अज्ञानियों के साथ बहस करते हुए बहुत दिक्कत आती है। शेखशादी ने ठीक कहा था कि 'जवाबे जाहिलाँ वाशद खामोशी।'

दण्डीजी इस प्रपंच से बहुत दुखी हुए। एक तो व्याकरण-विषयक चर्चा का सुयोग हाथ से निकल गया, दूसरा योजनाबद्ध मिथ्या प्रचार। वे अगले दिन मथुरा के कलेक्टर[10] से मिले तथा उनसे अपने सामने शास्त्रार्थ करवाने अथवा दो सौ रुपये वापिस दिलवाने का अनुरोध किया। कलेक्टर महोदय ने इस प्रसंग में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा — स्वामीजी, राधाकृष्ण अति धनाढ्य व्यक्ति हैं। अच्छा हो आप उनसे न उलझें। आप जहाँ एक रुपया लगाओगे, वह

हजार रुपये व्यय कर देगा।

सेठजी विद्वत्-समाज से अपने पक्ष की पुष्टि करवाना चाहते थे। उन्होंने रंगाचार्य के प्रभाव का लाभ उठाया और लक्ष्मण शास्त्री को धन देकर काशी भेजा। तय हुआ कि जो पण्डित निर्णय के पक्ष में स्वहस्ताक्षरित व्यवस्था देगा और उस पर अपने तीन पुत्रों अथवा शिष्यों के हस्ताक्षर करवाएगा, उसे सौ रुपये दक्षिणा मिलेगी। इस प्रकार दक्षिणा देकर न केवल काकाराम शास्त्री, काशीनाथ शास्त्री, गौड़ स्वामी आदि के हस्ताक्षर[11] लक्ष्मण शास्त्री ने करवाए अपितु आगरा के पण्डित चिरंजीलाल शास्त्री के हस्ताक्षर भी तीन सौ रुपये देकर प्राप्त करने में सफल हुए। उन दिनों हाईकोर्ट आगरा में थी, जहाँ चिरंजीलाल मुकदमों में हिन्दू धर्मशास्त्रों की व्यवस्था देने के लिए नियुक्त थे तथा तीन सौ रुपये मासिक वेतन पाते थे। सेठजी ने अपने पक्ष में व्यवस्था लिखवाने के लिए तब तीन लाख रुपये व्यय किए थे।[12]

दण्डीजी ने अनुभव किया कि उनसे शास्त्रार्थ करने की डींग हाँकने वाले पण्डित व्याकरण से अनभिज्ञ हैं और स्वयं को विजयी घोषित करवाने के लिए भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। काशी के पण्डितों के इस घृणित कर्म से वे इतने क्षुब्ध हुए कि लोगों से मिलना तथा वार्तालाप करना बन्द कर दिया। पाठशाला में पढ़ाना भी बन्द कर दिया। उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि काशी के धुरन्धर पण्डितों को धन के बल पर खरीदा जा सकता है। अकेले बैठे चिन्ता करते रहते। बार-बार यही कहते — जहाँ धर्मध्वजाधारी पण्डित धन के लोभ में सम्मति बेच रहे हों, जहाँ सत्य का लोप हो गया हो, जहाँ ऋषिकृत ग्रन्थों के स्थान पर साधारण लोगों की पुस्तकों को मान्यता मिल रही हो, जहाँ वेद प्रतिपादित धर्म के स्थान पर मतमतान्तरों को प्रश्रय मिल रहा हो, जहाँ अपूज्यों को समर्थन मिल रहा हो, जहाँ कपोल कल्पित सिद्धान्त घड़े जा रहे हों, कैसे हुई वह काशी विदुष्मती ? **कथं काशी विदुष्मती ?**[13]

आखिर दण्डीजी ने काशी के प्रमुख पण्डितों से पत्र द्वारा पूछा[14] कि उन्होंने **अजाद्युक्तिः** में सप्तमी तत्पुरुष समास का समर्थन किस आधार पर किया ? प्रज्ञाचक्षु संन्यासी ने षष्ठी तत्पुरुष के पक्ष में हेतु दे उन्हें शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। काशीस्थ पण्डित उनकी व्याकरण-दक्षता से सुविज्ञ थे। अतः उन्होंने उत्तर दिया — पक्ष तो आपका ही ठीक है पर हम हस्ताक्षर कर चुके हैं। व्यवस्था आप के पक्ष में भी दी जा सकती है। इसके लिए प्रत्येक पण्डित की दक्षिणा सौ रुपये

होगी। वह इस दक्षिणा में चार हस्ताक्षर देगा। सूचित कीजिए कितने हस्ताक्षर चाहिएँ।[१ग] इस उत्तर से दण्डीजी बहुत दुखी हुए। सरेआम विद्या बिक रही थी, वह भी काशी में। बेचने वाले भी सामान्य व्यक्ति नहीं थे। वे ब्राह्मण थे जिनके परिवारों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी शास्त्राध्ययन, चिन्तन एवं रक्षण का कार्य ही होता था। पतन! तेरी भी कोई सीमा नहीं।

काशी के पण्डितों से यह उत्तर पाकर दण्डी स्वामी ने अन्य नगरों के पण्डितों की राय लेनी चाही। वे अपने दो शिष्यों चिरंजीलाल तथा केशवदेव को साथ ले आगरा गए और चिरंजीलाल शास्त्री से मिले। उत्तर उसका भी वही था कि अब तो मैं हस्ताक्षर कर चुका हूँ। दण्डीजी दुखी,होकर मथुरा लौट आए।

इस प्रपंच के बाद पण्डित कृष्ण शास्त्री मथुरा छोड़कर चले गए। छह मास पश्चात् ज्योतिषी लक्ष्मण शास्त्री बहुत बीमार हो गए। दण्डीजी के साथ किया छल उन्हें भीतर-ही-भीतर बीन्ध रहा था। उन्होंने सेठ राधाकृष्ण को कहा — मैं बचूँगा नहीं, स्वामी विरजानन्द ने मुझ पर मारण प्रयोग किया है। सेठजी ने दण्डीजी से प्रार्थना की कि आप पाँच सौ रुपये के बदले एक हजार रुपये ले लीजिए परन्तु लक्ष्मण शास्त्री को क्षमा कर दीजिए। दण्डीजी बोले — व्यर्थ आशंका मत करो। मैं उनका अनिष्ट नहीं चाहता। मारना-बचाना किसी के हाथ में नहीं है। मैं स्वयं उन्हें बचाने के लिए एक हजार रुपये देने को उद्यत हूँ। शास्त्रीजी अगले ही दिन चल बसे। कुछ समय पश्चात् 21 नवम्बर, 1859 को सेठजी भी परलोक सिधार गए।

प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द कई दिन इसी चिन्ता में निमग्न रहे। वे यह जानकर बहुत दुखी थे कि काशी, मथुरा, आगरा आदि का एक भी पण्डित सत्य के पक्ष में गवाही देने के लिए उद्यत नहीं है। तब वे साक्षी खोजने के लिए ऋषियों के पुराने ग्रन्थों की पड़ताल करने लगे। उनका विश्वास था कि कोई ऋषि ही सत्य का पक्षपोषण करेगा। अब वे दिन-रात इस प्रसंग में सोचते रहते। तब अष्टाध्यायी के सूत्र (2.3.65) **कर्तृकर्मणोः कृति** पर चिन्तन करते हुए उन्हें निश्चय हुआ कि उनकी उपर्युक्त षष्ठी तत्पुरुष समास सम्बन्धी मान्यता महर्षि पाणिनि के इस सूत्र की सही व्याख्या पर आधरित है। इस निष्कर्ष ने उनकी चिन्ता को हर्ष में परिवर्तित कर दिया। उन्हें समर्थन मिल गया। वह भी किसी सामान्य पुरुष का नहीं, अपितु एक ऋषि का — ऐसे ऋषि का जिसने व्याकरण के लिए जीवन होम किया था। 'समूचे अनर्थ का मूल कौमुदी आदि अनार्ष

व्याकरण ग्रन्थ हैं जबकि पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी श्रेष्ठतम व्याकरण है' — यह विचार दृढ़ होते ही उन्होंने घोषित किया — 'भट्टोजि मूर्ख था। वह इस पवित्र भारतभूमि पर एक धूर्त हुआ है जिसने सूत्रक्रम तोड़कर पठन-पाठन विधि को भ्रष्ट कर जिज्ञासुओं को ऋषियों के मार्ग से हटाया और अपने तथा अपने गुरु रामचन्द्र दीक्षित के पीछे चलाने का कुकृत्य किया।'

यह शास्त्रार्थ अष्टाध्यायी पठन-पाठन का तात्कालिक कारण सिद्ध हुआ। वैसे दण्डीजी के हृदय में अष्टाध्यायी के प्रति श्रद्धा का बीजारोपण स्वामी पूर्णानन्द ने हरिद्वार में कर दिया था। स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उदयपुर प्रवास के समय मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या को बताया था कि स्वामी विरजानन्द की अष्टाध्यायी में श्रद्धा उद्दीपन करने तथा उसके प्रचार में उन्हें प्रेरित करने वाले पूर्णानन्द सरस्वती ही थे।[15क] दण्डी विरजानन्द ने काशी में अष्टाध्यायी के कुछ प्रकरण कण्ठस्थ किए थे । अलवर प्रवास के समय भी उनकी पाणिनि में श्रद्धा थी। तब तक उन्होंने अष्टाध्यायी का कुछ अध्ययन अवश्य कर लिया था। यह शब्दबोध के आरम्भ में लिखे मंगलाचरण से स्पष्ट है परन्तु अभी पाणिनि का प्रतिपादन आरम्भ नहीं किया था। मथुरा आगमन पर वे प्राय: अपने शिष्यों के साथ सूत्रक्रम की श्रेष्ठता की चर्चा करते रहते थे। उनके शिष्य वनमाली चौबे ने देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के नाम पत्र में लिखा था कि मथुरा में पाठशाला खोलते समय स्वामी विरजानन्द सामान्य भाव से अष्टाध्यायी पढ़ाया करते थे। तब वे कहते थे कि असल व्याकरण-ग्रन्थ तो अष्टाध्यायी है परन्तु अब यह ग्रन्थ लुप्तप्राय है। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि लोगों की इसमें प्रवृत्ति हो जाए। जब तक इसका पुनरुद्धार नहीं होगा तब तक कौमुदी आदि का पठन-पाठन प्रचलित रखना ही पड़ेगा।[16] अत: दण्डीजी काफी समय से विभिन्न व्याकरणों की न केवल मीमांसा ही कर रहे थे अपितु आर्षग्रन्थ अभियान के लिए किसी उपयुक्त अवसर की तलाश में थे।

पण्डित लेखराम लिखते हैं कि जब दण्डीजी **अजाद्युक्तिः** के समास की ऊहापोह में थे तब ''एक दिन प्रात:काल एक दक्षिणी ब्राह्मण को दण्डीजी ने अष्टाध्यायी का पाठ करते सुना। यह ब्राह्मण प्रतिदिन नियमानुसार पाठ करता था, परन्तु दीवारों पर पाठ का क्या प्रभाव हो सकता है? किन्तु जब इस पाठ की ध्वनि विरजानन्द के धर्मप्रिय अन्वेषण करने वाली आत्मा के निष्पक्ष कान में पहुँची तो आत्मा मानों समाधिस्थ होकर महर्षि पाणिनि के अनमोल सूत्रों को सुनने

लगी। जब तक उसने अष्टाध्यायी का समस्त पाठ समाप्त न किया तब तक एकचित्त होकर विरजानन्द की वृत्ति उसी में खिंची रही और तत्पश्चात् सुने हुए पाठ को विचारा।''[17] देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय इस घटना को ''अद्भुत और सर्वथा अयुक्तियुक्त'' मानते हैं। उनके अनुसार ''यह सब घटना स्वकपोल-कल्पित होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'' इस निष्कर्ष का कारण बताते हुए वे लिखते हैं —''अब तक विरजानन्द के विद्यार्थियों के साथ ग्रन्थकार की जो बातचीत हुई है उनमें से किसी ने भी ऐसा नहीं कहा।''[15ख]

यह घटना कपोल-कल्पित नहीं है। पण्डित लेखराम सरीखा सत्पुरुष मनघड़न्त घटना लिखेगा — यह असम्भव है। वैसे अल्पज्ञ जीव से भूल हो सकती है। पण्डित मुकुन्ददेव ने इस घटना का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[९घ] कालान्तर में दण्डीजी के शिष्य रमणलाल ने स्वयं भी इस घटना की पुष्टि कर दी थी।[18] दुर्भाग्य से तब तक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय परलोकवासी हो गए थे। रमणलाल मथुरा में मदनमोहन मन्दिर के अध्यक्ष गोस्वामी पुरुषोत्तमलाल के पुत्र थे। दण्डीजी पालकी में बैठ उन्हें पढ़ाने जाते थे। तब एक दिन मार्ग में उन्होंने एक दशग्रन्थी दाक्षिणात्य ऋग्वेदी ब्राह्मण को अष्टाध्यायी सूत्रपाठ करते सुना था। फिर उसे चार-पाँच दिन स्वस्थान पर बुलाकर सूत्रपाठ का पारायण श्रवण किया। पाठ में कहीं-कहीं अशुद्धियाँ थीं। दण्डीजी ने पुस्तक मंगवाकर सुनी, वह भी अशुद्ध थी। भले ही उस ब्राह्मण का पाठ अपपाठ था, पर वह दण्डीजी के बताए पाठों को पाठ-भेद ही मानता था।[९घ]

तदनन्तर दण्डी जी का अष्टाध्यायी पर ध्यानाकर्षित हुआ। चिन्तन करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि पाणिनि उनके पक्ष का समर्थन करते हैं। पाणिनि द्वारा स्वपक्ष की पुष्टि के पश्चात् दण्डीजी नियमपूर्वक प्रतिदिन सन्ध्या के समय अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य का पाठ सुनने लगे। कभी-कभी देर रात तक पाठ होता रहता था। वनमाली चौबे ने देवेन्द्र बाबू को पत्र में लिखा था कि वे रात को दो घण्टे नियमित रूप से महाभाष्य के पाँच-पाँच पृष्ठ दण्डीजी को याद करवाया करते थे।[16] विद्यार्थियों के चले जाने के पश्चात् दण्डीजी एकान्त में बैठकर सुने हुए पाठ को मन में दोहराते और उस पर विचार करते थे। कभी-कभी किसी गूढ़ विषय पर आधी रात तक ध्यानावस्थित हो मीमांसा करते रहते। प्रातः होने पर जो विद्यार्थी पहले आ जाता उसे पुस्तक दे देते और रात्रि को कण्ठस्थ किया पाठ सही-सही सुना देते। इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य कण्ठस्थ

कर लिए। जितना-जितना वे मनन करते गए, उतना-उतना इन ग्रन्थों में उनकी श्रद्धा बढ़ती गई और कौमुदी आदि आधुनिक व्याकरणों से दूर होते गए। तब दण्डीजी ने निम्नलिखित श्लोक रचा था —

अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
ततोऽन्यत् पुस्तकं यत्तु तत्सर्वं धूर्तचेष्टितम्।।

अर्थात् अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य ही व्याकरण की दो पुस्तकें हैं। इनसे अन्य जो (कौमुदी आदि) पुस्तकें हैं, वे सब धूर्तों की चेष्टाएँ हैं।

अब उन्हें विश्वास हो गया कि केवल कौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित ही मूर्ख नहीं था अपितु उसका अनुकरण कर संस्कृत व्याकरण की पुस्तकें रचने हारे नागेश भट्ट आदि अन्य पण्डित भी धूर्त तथा मूर्ख थे क्योंकि मूर्ख का अनुसरण करने वाला भी मूर्ख होता है। दण्डीजी सूत्रक्रम को तोड़कर व्याकरण प्रक्रिया को दूषित करने वाले भट्टोजि दीक्षित आदि लेखकों, उन द्वारा रचे ग्रन्थों और उनके ग्रन्थों को पढ़ने-पढ़ाने वालों — इन तीनों को कुत्सितत्रय (निन्दा के तीन पात्र) अथवा कत्री कहा करते थे।

कहते हैं कि भट्टोजि दीक्षित ने उस समय के राजा से आदेश जारी करवा दिया था कि भविष्य में सिद्धान्तकौमुदी ही पढ़ाई जाया करेगी। कई पण्डितों ने राजा से प्रार्थना की कि यह पुस्तक अशुद्ध है तो राजा ने उनका भट्टोजि से शास्त्रार्थ करवा दिया। उसने कुछ अशुद्धियाँ तो दूषित लेख कहकर निकाल दीं परन्तु बाकियों को मनोरमा लिखकर सही सिद्ध करने का प्रयास किया।[१३] इस प्रकार भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनि-परम्परा के विपरीत चलकर संस्कृत व्याकरण को महती क्षति पहुँचाई जिससे आर्षग्रन्थों का लोप हो गया। परिणामस्वरूप महाभाष्य के बारे में यहाँ तक प्रसिद्ध कर दिया गया था कि

कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यदिह्यायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।।

अर्थात् यदि कौमुदी का ज्ञान नहीं है, तो पतंजलि कृत महाभाष्य पर श्रम व्यर्थ है। यदि कौमुदी का ज्ञान है तो महाभाष्य पर श्रम करना ही व्यर्थ है।

शास्त्रों के नाम पर अनेक विवाद खड़े हो गए थे जिसकी कल्पना मात्र से दण्डीजी सिहर उठते थे। उन्हें लगता था कि मनुष्यकृत ग्रन्थों के प्रचार के कारण अल्प बुद्धि लोग आर्षग्रन्थों का अध्ययन नहीं करेंगे। अतः वे भट्टोजि दीक्षित के कर्म से इतने आहत थे कि उसका नाम भी सुनना नहीं चाहते थे। वे उसे 'भट्टो

भूत' कहते थे। उनके अनुसार कौमुदी बनाने वाला भट्ट मरकर भूत हो गया क्योंकि उसने पाणिनिकृत अष्टाध्यायी को उथल-पुथल कर पाणिनि ऋषि का नाम मिटाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उसने कौमुदी में **मुनित्रयं नमस्कृत्य** लिखकर भी तीनों मुनियों (पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि) से असम्मत रचना की है। अत: दण्डी जी कहा करते थे कि दो-अढ़ाई हजार वर्ष में अष्टाध्यायी पर अनेक अत्याचार हुए हैं और उन अत्याचारियों में अन्तिम अत्याचारी भट्टोजि दीक्षित है।

कौमुदी में भट्टोजि दीक्षित का अपना कुछ नहीं है। सूत्र, लिंगानुशासन व गणपाठ सभी कुछ पाणिनि का है। पाणिनि का पदार्थ चुराकर भट्टोजि ने साहूकार बनना चाहा है। इस प्रसंग में दण्डी जी एक दृष्टान्त सुनाया करते थे कि चार चौर खाट पर सोई हुई बुढ़िया को खाट सहित चुराकर ले गये। मार्ग में जब बुढ़िया की आँख खुली तो उसने रोना-चिल्लाना और चौर-चौर कहना शुरू कर दिया। चौर घबराए कि कहीं रोना-पीटना सुनकर लोग उन्हें पकड़ न लें। चौर भी बुढ़िया के साथ ताल मिलाकर कहने लग गए — 'तू कहे जो सच री बुढ़िया, तू कहे जो सच'। लोगों ने सोचा कि कोई स्वांग रचने वाले हैं। अत: किसी ने हस्तक्षेप नहीं किया। यही व्यवहार भट्ट चौर ने अष्टाध्यायी के साथ किया है। अष्टाध्यायी का सर्वस्व लूटकर दूसरे नाम से ग्रन्थ बना दिया और आप बन गया ग्रन्थकार परन्तु सूत्र अपना परिचय दे रहे हैं कि वे कौमुदी के नहीं अपितु अष्टाध्यायी के हैं।

अब दण्डीजी ने अपने शिष्यों को अष्टाध्यायी की खोज पर लगा दिया। बहुत प्रयत्न करने पर ऋग्वेदपाठी ब्राह्मणों (दश ग्रन्थियों) से एक प्रति मिली, उसमें भी कुछ पृष्ठ नहीं थे। पुस्तक वैसे भी अशुद्ध थी। शुद्ध सम्पूर्ण पुस्तक की खोज तथा उपलब्ध पुस्तक का पाठ चलता रहा। दण्डीजी ने एक पुस्तक शुद्ध करवाकर उसकी प्रतिलिपियाँ करवाईं। दण्डीजी के पुण्य-प्रताप से क्रान्ति का यह स्वर काशी में भी सुनाई देने लगा। कौमुदी-पाठी पण्डितवर्ग अष्टाध्यायी पर विचार करने के लिए बाधित हो गया परन्तु अभी इसे पढ़ाने की हिम्मत न की। एकमात्र दण्डीजी ही इस ग्रन्थ को पढ़ाते थे। अष्टाध्यायी छपने लगी। फिर तो दो-दो आने में उपलब्ध हो गई।[19]

मनुष्यकृत ग्रन्थों के प्रति घृणा हो जाने पर एक दिन दण्डीजी ने अपने शिष्य गोपीनाथ भट्ट[20] को आदेश दिया कि इन कौमुदी आदि अनार्षग्रन्थों के कूड़े को

यमुना में बहाकर कपड़ों सहित स्नान करके आओ। इन पुस्तकों में निःस्पृह दण्डी जी रचित दो पुस्तकें वाक्यमीमांसा तथा पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश भी थीं। उसने गुरुवर की दोनों पुस्तकें जल में प्रवाहित न करके घर में रख लीं और वापस आकर झूठ बोल दिया। कुछ समय पश्चात् सोहनलाल ने भेद खोल दिया। दण्डीजी ने तुरन्त गोपीनाथ को पाठशाला से निष्कासित कर दिया।

इतने दिन जिन सिद्धान्तकौमुदी, शेखर, चन्द्रिका, मनोरमा आदि को दण्डीजी पढ़ाते रहे, अब पाठशाला में उनका पठन-पाठन एक दम बन्द हो चुका था। केवल अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती थी। युगलकिशोर, चिरंजीलाल, सोहनलाल, गोपाल ब्रह्मचारी, नन्दन चौबे आदि सब अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पढ़ने लगे। एक दम इतना परिवर्तन एक क्रान्तिकारी कदम था। रुढ़िवाद के गढ़ मथुरा में ऐसा करने से पाठशाला पूर्णतया बन्द हो सकती थी परन्तु न दण्डीजी ने इसकी परवाह की, न पाठशाला बन्द हुई।

दण्डी जी भागवतपुराण और अनार्ष व्याकरणों के नितान्त विरुद्ध थे, इसलिए जब कोई नया विद्यार्थी अध्ययन के लिए आता तो उससे इन दोनों पुस्तकों को कभी भी अध्ययन न करने की शपथ दिलाया करते थे। उनका आदेश था कि अष्टाध्यायी-पठनकाल में कौमुदी देखनी भी नहीं है। यदि अष्टाध्यायी का पुस्तक न मिले तो किसी से लिखवा लो। किम्वदन्ती है कि पाठशाला में एक जूता रख दिया गया था। जो विद्यार्थी आता वह भट्टोजि दीक्षित के नाम पर जूता लगाता ताकि किसी के मन में उसके लिए प्रतिष्ठा का लेश मात्र भी शेष न रह जाए।[21] विद्रोह के समय प्रायः सीमा का उल्लंघन हो जाता है। दण्डीजी जैसे महापुरुष के समक्ष यदि ऐसा किया गया हो तो यह उनके हृदय की पीड़ा तथा अनार्षग्रन्थों के विरुद्ध घोर संघर्ष का प्रतीक है। यह उनकी अन्तःवेदना की अभिव्यक्ति है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय[22] तथा प्रभुदयाल मीतल इस किम्वदन्ति को असत्य मानते हैं। पण्डित मुकुन्ददेव ने इसकी कोई चर्चा ही नहीं की।

एक दिन मथुरा के कार्यवाहक कलेक्टर प्रीस्टली सैर करते हुए दण्डीजी की पाठशाला के आगे से जा रहे थे। उन्होंने दण्डीजी की स्पष्टवादिता, निर्मल-चरित्र एवं पाण्डित्य के विषय में सुन रखा था। अतः उनसे मिलने चले गए और अपने योग्य कोई सेवा पूछी। दण्डीजी झटपट बोले, "मेरी सेवा करना चाहते हो तो भट्टोजि दीक्षित के बनाए कौमुदी आदि जितने ग्रन्थ देश भर में हैं या कम से कम मथुरा में हैं, उन्हें जलवा दो या यमुना में प्रवाहित करवा दो।" अनार्षग्रन्थों से वे

इतने दुखी थे। निस्सन्देह आर्षग्रन्थों के पौधे को पुष्पित-पल्लवित रखने के लिए इस खरपतवार को नष्ट करना आवश्यक था।

दण्डीजी ने निघण्टु[23] और निरुक्त[24] पर भी चिन्तन आरम्भ कर दिया। उन्हें विश्वास हो गया कि ऋषिप्रणीत ये चारों ग्रन्थ आर्यजाति की अपार विद्या के अक्षय भण्डार की कुंजी हैं। वेद को समझने का यही एक मार्ग है। कौमुदी - परम्परा को त्याज्य घोषित करके वे अष्टाध्यायी तथा अन्य ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के प्रचार में प्राणपण से जुट गए। उस समय के बौद्धिक जगत् के विरुद्ध यह एक व्यक्ति का विद्रोह था। कभी आचार्य चन्द्र और फिर महावैयाकरण क्षीर ने तत्कालीन कश्मीर नरेशों की सहायता से महाभाष्य का उद्धार किया था परन्तु दण्डी जी (और कालान्तर में उनके मानसपुत्र दयानन्द) ने ईश्वर के सहारे समूचे आर्ष साहित्य का पुनरुद्धार कर दिया। निस्सन्देह वैदिक वाङ्मय के इतिहास में एक युग ही बदल दिया उस प्रभु भक्त आत्मविश्वासी प्रज्ञाचक्षु संन्यासी ने। गीत भले लक्ष्मी के गाए जाते रहे, पर विजय सरस्वती की हुई थी।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. गुजराती वैश्य गोकुलचन्द पारख ग्वालियर के महाराजा दौलतराव सिंधिया के कृपापात्र थे। उन्होंने राजस्व उगाही का ठेकेदार बन बहुत धन कमाया। एक बार उज्जैन में कुम्भ के अवसर पर वैरागियों तथा संन्यासियों में झगड़ा हो गया। महाराजा ने पारखजी को कुछ सेना के साथ स्थिति-नियन्त्रण हेतु भेजा। सेना ने संन्यासियों पर आक्रमण किया। कुछ मारे गए , कुछ मठ छोड़कर भाग गए। तब एक मठ में पारखजी को करोड़ों रुपये की सोने की ईंटें मिलीं। महाराजा ने इस धन को किसी पुण्य कार्य में लगाने का आदेश दिया। इस अपार सम्पत्ति के साथ पारखजी मथुरा आए और वे मथुरा-वृन्दावन मार्ग पर जहाँ ठहरे, वह पारखजी के बाग के नाम से जाना जाने लगा। फिर उन्होंने मथुरा में द्वारिकाधीश मन्दिर का निर्माण करवाया (द्रष्टव्य : देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 58-59 पाद टिप्पणी)।

2. जयपुरवासी मनिराम साधारण आर्थिक स्थिति के ओसवाल जैन थे। वे गोकुलचन्द पारख के पास सामान्य कर्मचारी बनकर ग्वालियर आए थे। उन्होंने नि:सन्तान पारखजी का इतना मन जीत लिया था कि वे उसे जैनी होने के कारण दत्तक पुत्र भले न बना सके पर 1926 ई. में मृत्यूपरान्त अपनी अपार सम्पत्ति का स्वामी बना गए (F.S. Growse, Mathura, A District Memoir, p. 14) ।

3. Imperial Gazetteer of India, Vol. XVIII, p. 74

4. रंगाचार्य का जन्म तमिलनाडु के काञ्चीमण्डल में तिरुबड़न्दे में 1809 ई. में हुआ। वहाँ से गोवर्धन आकर श्रीसम्प्रदाय के वैष्णव मन्दिर के अध्यक्ष श्रीनिवासाचार्य के रसोइये बन गए और विद्याग्रहण भी करते रहे। श्रीनिवासाचार्य ने सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें अपना उत्तराधिकारी

बना दिया। फिर वे उनकी मृत्यु पर 8 मई, 1836 को गद्दी के स्वामी बन गए। उन्होंने श्रीनिवासाचार्य तथा बंगाली नैयायिक विद्यावाचस्पति मिश्र से विद्याग्रहण की और पण्डित कृष्ण शास्त्री से भी व्याकरण तथा न्याय पढ़ा। वे अपार धन-सम्पत्ति के स्वामी तथा बड़े-बड़े सेठों के गुरु थे (द्रष्टव्य: रामानुजदास, श्री रंगदेशिक जीवन-चरित्र; बलदेव उपाध्याय, काशी की पाण्डित्य परम्परा, पृष्ठ 184-6)। वैष्णव मत का खण्डन पहले विरजानन्द ने किया। फिर दयानन्द ने भागवत-खण्डनम् लिखी और इस मत के खण्डन में सत्यार्थप्रकाश में सर्वाधिक पृष्ठ लिखे।

5. F.S. Growse, Mathura, A District Memoir, pp. 260-261; इस मन्दिर के निर्माण, मूर्तियों एवं आभूषणादि पर कुल मिलाकर लगभग एक करोड़ रुपया व्यय हुआ था। यह मन्दिर 18 मार्च, 1857 को रंगाचार्य को समर्पित किया गया था। मन्दिर सम्बन्धी विस्तृत जानकारी हेतु द्रष्टव्य : रामानुजदास, श्री रंगदेशिक जीवन-चरित्र, पृष्ठ 27-40

6. कृष्ण शास्त्री कुरुक्षेत्र के समीपस्थ किसी स्थान के रहने वाले थे। व्याकरण तथा न्याय में पारंगत शास्त्रीजी चालीस वर्ष काशी तथा नवद्वीप में पढ़ते रहे। नवद्वीप बंगाल के नदिया जिले में गंगा और जलागी नदियों के संगम पर स्थित वैष्णवों के गौड़ीय सम्प्रदाय का तीर्थ है। यहाँ 1485 ई. में चैतन्य महाप्रभु का जन्म हुआ था।

7. मथुरा के चौबे गंगादत्त तथा रंगदत्त काशी में पढ़ने के पश्चात् मथुरा आकर पढ़ाते थे। दण्डीजी की प्रतिष्ठा सुन उनके शिष्य बनकर पुनः विद्याग्रहण कर रहे थे।

8. पण्डित लेखराम, स्वामी वेदानन्द, पण्डित मुकुन्ददेव तथा भीमसेन शास्त्री ने इन दोनों पण्डितों को कृष्ण शास्त्री के नव शिष्य लिखा है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय उन्हें कृष्ण शास्त्री के विद्यार्थी तो नहीं केवल सेठजी के आश्रित मानते हैं। वे दयानन्द-चरित (सम्वत् 1989 संस्करण) के पृष्ठ 126-127 पर लिखते हैं — "रंगाचारी उस सूत्र की व्याख्या सप्तमी तत्पुरुष के पक्ष में करते थे ... इस मीमांसा के लिए रंगाचारी के अध्यापक तक बुलाए गए।"

9. पण्डित मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, (क) पृष्ठ 53, (ख) पृष्ठ 55, (ग) पृष्ठ 56-57, (घ) पृष्ठ 68-70 , (ङ) पृष्ठ 75

10. पण्डित लेखराम ने मथुरा के कलेक्टर का नाम अलेक्जेण्डर लिखा है।

11. काकाराम पण्डित, काशीनाथ शास्त्री तथा गौड़ स्वामी आदि अपने समय के मूर्धन्य विद्वान् एवं वैयाकरण माने जाते थे (द्रष्टव्य : बलदेव उपाध्याय, काशी की पाण्डित्य परम्परा, पृष्ठ 180-183, 169-171, 511-514, 778-783)।

12. ऐसा ज्योतिषी लक्ष्मण शास्त्री के भतीजे पण्डित मूलचन्द्र ने बाद (अक्तूबर 1946; कार्तिक 2003 वि.) में भीमसेन शास्त्री को बताया था (विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 70)।

13. दण्डीजी ने काशीस्थ पण्डितों पर कटाक्ष करते हुए श्लोकाष्टक लिखा था जिसका पादान्त था — **कथं काशी विदुष्मती** अर्थात् कैसे है तब काशी विद्वानों की नगरी ? ऋषि दयानन्द को यह श्लोकाष्टक कण्ठस्थ था।

14. पण्डित लेखराम, देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पण्डित मुकुन्ददेव तथा भीमसेन शास्त्री आदि लेखकों ने दण्डीजी द्वारा काशी के पण्डितों को पत्र भेजकर पूछना लिखा है परन्तु दण्डीजी के शिष्य नवनीत चतुर्वेदी के सुपुत्र गोविन्द की साक्षी के आधार पर पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक

ने लिखा है — "अजाद्युक्ति पर जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें श्री दण्डीजी के विपरीत काशी के पण्डितों द्वारा सम्मति देने पर दण्डीजी स्वयं काशी गए और वहाँ सब पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। परन्तु दण्डीजी की विद्वत्ता से भली भाँति परिचित पण्डित समुदाय उनके सम्मुख नहीं आया" (द्रष्टव्य : वेदवाणी, मार्च 1960, पृष्ठ 13)। स्वामी वेदानन्द ने लिखा है — "उन्होंने अपना एक मनुष्य काशी भेजकर उनसे पूछा ...।" हमें उन द्वारा पत्र देकर व्यक्ति विशेष को काशी भेजना उपयुक्त लगता है।

15. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, (क) पृष्ठ 89, (ख) पृष्ठ 91

16. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के 4 सितम्बर, 1913 के पत्र के उत्तर में उन्हें लिखा गया वनमाली का पत्र (द्रष्टव्य : विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 216-17)

17. पण्डित लेखराम, महर्षि दयानन्दजी सरस्वती का जीवनचरित्र (हिन्दी), पृष्ठ 842

18. रमणलाल का अध्ययन वर्ष निश्चित न होने से यह घटना कब घटी — नहीं कहा जा सकता।

19. अष्टाध्यायी सर्वप्रथम 1809 ई. में कोलकाता, फिर 1839-40 ई. में बोन (जर्मनी) और 1852 ई. में बनारस में मुद्रित की गई थी। दण्डी जी के अभियान के पश्चात् बनारस, कोलकाता, मद्रास, मुम्बई, इलाहाबाद आदि कई स्थानों से कई बार छापी गई।

20. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार गोपीनाथ को दण्डी जी ने अपनी दोनों पुस्तकें यमुना में प्रवाहित करने के लिए दी थीं (विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 119)। मुकुन्ददेव ने लिखा है कि दण्डी जी ने गोपीनाथ तथा सोमनाथ दो शिष्यों को कौमुदी आदि पुस्तकें बहाने के लिए कहा था (द्रष्टव्य: दण्डी जी की जीवनी, पृष्ठ 70)। उन्होंने समूची जीवनी में दण्डी जी रचित पुस्तकों की कोई चर्चा नहीं की।

21. ऐसा पण्डित लेखराम तथा स्वामी सत्यानन्द ने लिखा है। इन्द्र विद्यावाचस्पति तथा लक्ष्मण आर्योपदेशक ने भट्टोजि दीक्षित के क्रमशः ग्रन्थों व चित्र पर जूता लगवाना लिखा है।

22. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 80-81 पाद टिप्पणी; उनकी इस पाद टिप्पणी में काफी अतिशयोक्ति है, उतना तथा वैसा पण्डित लेखराम अथवा अन्य लेखकों ने नहीं लिखा था।

23. महर्षि यास्क के निरुक्त का आधार ग्रन्थ निघण्टु ऋग्वेद के कठिन शब्दों का संकलन है। ऋषि दयानन्द इसे यास्क मुनिकृत मानते हैं। ऐसा ही ऋषि दयानन्द ने निघण्टु की भूमिका में लिखा है। आधुनिक विद्वानों का मत भिन्न है। पण्डित भगवद्दत्त ने ऋषि दयानन्द के मत का प्रबल समर्थन किया है (द्रष्टव्य : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ 182-192)।

24. महर्षि यास्क ने निरुक्त में वेदों में प्रयुक्त शब्दों के विभिन्न निर्वचनों पर प्रकाश डाला है। विशिष्ट अर्थों में रूढ़ शब्दों की तर्क संगत व्याख्या की गई है।

आर्षग्रन्थ अभियान

युग-प्रवर्तक प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द सरस्वती ने अब अपौरुषेय वेदों के अतिरिक्त शेष समूचे संस्कृत वाङ्मय को दो भागों में विभक्त कर दिया -- आर्ष तथा अनार्ष। वैदिककाल के ऋषिप्रणीत ग्रन्थ आर्ष तथा महाभारतकाल के बाद की सामान्य मनुष्यों की लिखी पुस्तकें अनार्ष घोषित कर दी गईं। वे दो-चार श्लोक सुनकर ही बता देते थे कि यह शास्त्र आर्ष है अथवा अनार्ष। साथ ही उन्होंने सर्वसाधारण के लिए दोनों में भेद करने का सरलतम त्रिसूत्री नुस्खा दे दिया। पहला -- आर्षग्रन्थ के शुभारम्भ में प्रायः **अथ** अथवा **ओ३म्** शब्द मिलता है, जैसे अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य का आरम्भ **अथ शब्दानुशासनम्**, पूर्वमीमांसा तथा ब्रह्मसूत्र का क्रमशः **अथातो धर्मजिज्ञासा** तथा **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** और पातञ्जल योग सूत्र का **अथ योगानुशासनम्** से हुआ है। इसके विपरीत अनार्ष पुस्तकें **सरस्वत्यै नमः, नारायणाय नमः, श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः, दुर्गायै नमः** आदि किसी हिन्दू देवी-देवता की स्तुति में लिखे मंगलाचरण से आरम्भ होतीं हैं।[1] दूसरा -- सभी आर्षग्रन्थ सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करते हैं और संशयनाशक एवं लोकोपकारक हैं परन्तु अनार्षग्रन्थ भ्रमोत्पादक तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता, द्वेष, घृणा एवं प्रमाद से भरे हुए हैं। इनमें परस्पर गहरा मतभेद है। तीसरा -- आर्षग्रन्थों की टीकाएँ सर्वमान्य विमल-मति मनीषियों द्वारा लिखी गई हैं, यथा -- पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य टीका महर्षि पतंजलि की कृति है।[2] अनार्ष पुस्तकों की टीकाएँ सामान्य सांसारिक व्यक्तियों ने लिखी हैं।

दण्डीजी अब केवल आर्षग्रन्थों को प्रमाण और सभी अनार्षग्रन्थों को अप्रामाणिक मानते थे। उनकी दृष्टि में वेदों की इतनी प्रतिष्ठा थी कि वे वेद को सूर्यवत् स्वतः प्रमाण स्वीकार करते थे। उनका मत था कि भारत-भूमि में हो रहे अनेक प्रकार के अनर्थ का कारण ये अनार्षग्रन्थ हैं। इनमें शब्दाडम्बर अधिक और सार बहुत कम है। इन मनुष्यकृत ग्रन्थों और भाष्यों के प्रचलन से अनेक आर्षग्रन्थों का लोप तथा शेष बचे ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन समाप्त हो गया[3] जिससे धर्म की क्षति हुई है, अनेक मतमतान्तर फैले हैं और मूर्तिपूजा आदि प्रथाओं का प्रचलन हुआ है। अतः देशोद्धार के लिए आर्षग्रन्थों का

प्रचार अनिवार्य है। आर्षग्रन्थों के प्रामाण्यवाद का प्रतिपादन दण्डीजी का एक क्रान्तिकारी आविष्कार है। आर्षग्रन्थों की उपादेयता पर बल देना उनकी विशिष्ट देन है। मनुष्यकृत पुस्तकों को ऋषिकृत ग्रन्थों से पृथक् कर शास्त्र मर्यादा स्थापित करने का प्रयास उनसे पहले शायद ही किसी ने किया हो। शंकर, रामानुज आदि किसी भी आचार्य ने कभी यह घोषणा नहीं की कि संस्कृत में लिखे होने मात्र से ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हो जाता।

इस मुद्दे को इतना महत्त्व देने का क्या कारण था? ग्रन्थ आर्ष है या अनार्ष — इस पर इतना बल क्यों दिया गया? धार्मिक क्षेत्र में इसकी क्या उपादेयता है? अनार्षग्रन्थों का प्रचलन रहने से हानि क्या थी? यह बहस केवल शास्त्रीय थी या सामान्य जनजीवन से भी इसका कोई सम्बन्ध था? यह उस समय के केवल कुछ विद्वानों के अहम् की तुष्टि मात्र थी या आज भी इसकी प्रासंगिकता है? ये प्रश्न सहज मस्तिष्क में उभरते हैं।

अंग्रेज़ी राज्य से पूर्व भारत में आजकल जैसा कोई संविधान न था। सब व्यवस्था ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के आधार पर चलती थी। तब ये ग्रन्थ ही विधान थे, ये ही संविधान। राजा तथा प्रजा के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का सीमा-निर्धारण इन्हीं के आधार पर होता था। सभी धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक निर्णयों का एकमात्र आधार ये ग्रन्थ ही थे। इन्हीं ग्रन्थों से जनजीवन प्रभावित एवं व्यवस्थित होता था। भारतीय जीवन एवं संस्कृति के मूलाधार ये ही ग्रन्थ थे। ये ही भारतीयों को उनकी विशिष्ट पहचान प्रदान करते थे। इनके आधार पर जीवनयापन करने वाले भारतीयों से विश्व के लोग शिक्षा लेते थे। तब सामान्य मनुष्यों द्वारा लिखी व्यवस्थाओं को ऋषिप्रणीत नियमों के तुल्य नहीं माना जाता था। आर्ष युग में अनधिकारी व्यक्ति न प्रवचन कर सकता था, न ग्रन्थ रचना। ऋषि भी अपने पूर्ववर्त्ती शास्त्रों को देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप बनाने के लिए संस्कृत एवं परिष्कृत करते थे परन्तु बाद में वेदज्ञान के अभाव तथा आर्ष ज्योति के क्षीण होने पर विभिन्न लोगों ने अपनी-अपनी सोच के अनुसार अनार्षग्रन्थ लिख दिए। इन अनार्षग्रन्थों के कारण धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक चिन्तन में संकीर्णता, पापाचार, ईश्वराराधना के नाम पर बाह्य आडम्बर तथा अगणित पन्थ एवं सम्प्रदाय फैले। अतः मनुष्यकृत ग्रन्थों की बाढ़ रोकना जरूरी था अन्यथा तब भी आज जैसी स्थिति हो जाती। आजकल व्यक्ति जो चाहे लिख दे — पूरी छूट है। इसीलिए साहित्य-सृजन के नाम पर अश्लीलता

का प्रचार है। लिपिबद्ध गाली को लोक-साहित्य की संज्ञा दी जाती है। कोई नैतिक मर्यादा बची नहीं है। विकासवादी मनुष्य ऋषित्व की अपेक्षा पशुता की ओर अग्रसर है। उसका स्वरूप ही बदल गया है। दण्डीजी का आर्षग्रन्थ अभियान अवैदिक मतों का फैलाव रोकने और नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने की दिशा में आज भी उतना ही प्रासंगिक है। जिस तरह वर्तमान काल में संविधान एवं विधान की व्याख्या तथा विश्लेषण के लिए प्रत्येक देश में प्रत्येक स्तर पर विधि-वेत्ताओं का एक बृहद् वर्ग है, उसी प्रकार तब भारत में शास्त्र-व्याख्या प्रस्तुत करने वाला ब्राह्मण समुदाय था। शास्त्र की शुद्धता, प्रामाणिकता, व्याख्या एवं व्याख्या-शैली महत्त्वपूर्ण थीं। शास्त्रों की शुद्धता परखने, विश्लेषण एवं व्याख्या करने के लिए व्याकरण सहायक था। अतः व्याकरण-ग्रन्थ भी तो आर्ष होना चाहिए।

लगभग सोलहवीं विक्रमी शती तक अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य का पठन-पाठन जारी रहा। फिर भट्टोजि दीक्षित ने उस परम्परा का लोप कर प्रक्रिया परिपाटी शुरू कर दी। अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के पठन-पाठन की कथा तो क्या कहिए , ये ग्रन्थ ही दुर्लभ हो गए थे। इस दीर्घकाल में बड़े-बड़े पण्डित एवं आचार्य हो गुजरे। किसी को यह साहस न हुआ कि पुरातन ऋषि-परम्परा को पुनर्जीवित करे। यह श्रेय दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती को है कि उन्होंने अवैदिक ग्रन्थों का पठन-पाठन छुड़वाकर ऋषिकृत ग्रन्थों के प्रचार का संकल्प लिया। भीष्म प्रतिज्ञा थी यह। ज्ञान का यह एक ऐसा यज्ञ था जो विश्व में सम्भवतः दण्डीजी ने ही रचा। उन्होंने अपनी मान-कीर्ति, सुख-आराम ... सब कुछ इस यज्ञ में अर्पित कर दिया। स्वरचित दो पुस्तकों (वाक्यमीमांसा तथा पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश) की भी आहुति दे डाली।[4] उन्हें चिन्ता थी कि कहीं उनके ग्रन्थों के प्रचारित होने से लोगों का मूल ग्रन्थों के प्रति झुकाव कम न हो जाए। फिर न स्वयं कोई पुस्तक लिखी, न ही पुस्तक लिखने के लिए किसी साधारण मनुष्य को प्रोत्साहित किया।

पण्डित मुकुन्ददेव ने अक्षरशः सत्य लिखा है — ''क्या कारण है कि हजाराँ वर्ष व्यतीत हो गये लाखों पण्डित मर मिटे किसी को अष्टाध्यायी महाभाष्य के पठन पाठन का मार्ग न दीखा और जिसको दीखा पाठकजन धर्म लगती कहना वह अन्धा था। छीः आज संस्कृत के ग्रन्थों की कोन कहे वेदों में भी अन्धकार हो जाता। धन्य है महामहिम स्वामि विरजानन्द सरस्वती महाराज

को जिनके प्रताप सै अष्टाध्यायी का प्रचार हुआ।''[5] निस्सन्देह दण्डीजी ने केवल अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य का ही नहीं, समूचे आर्ष -वाङ्मय का पुनरुद्धार किया। उन्होंने जिस सत्य का प्रत्यक्ष किया तथा उनके हृदय में जो आर्षज्ञान-ज्योति प्रज्वलित हुई, उसने उन्हें ऋषित्व पद का अधिकारी बना दिया।[6] महर्षि पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि व यास्क की परम्परा में इस महान् मनीषी विरजानन्द का सदा के लिए गौरवमय स्थान सुरक्षित हो गया। वे अष्टाध्यायी के साक्षात् नूतन पतंजलि बन गए। यूँ तो केवल दयानन्द को शिष्य बनाने से ही उनकी कीर्ति अमर है, तो भी जब तक अष्टाध्यायी और महाभाष्य रहेंगे, विरजानन्द का विरज नाम सूर्य की भाँति चमकता रहेगा।

अब दण्डीजी को यही एक चिन्ता थी कि किसी प्रकार आर्षग्रन्थों का प्रचलन हो। इसी समस्या के समाधान में लगा समय उन्हें सार्थक लगता था। अब वे आर्षयुग आरम्भ होने से पहले के अपने जीवन को व्यर्थ मानने लगे। कोई पूछता तो वे अपनी आयु की गणना भी आर्षयुगारम्भ से करते।

उनका विश्वास था कि आर्षग्रन्थों का प्रचलन सभी सुधारों का मूल है। मूर्तिपूजा के खण्डन का प्रसंग चलता तो कहते कि आर्षग्रन्थों का प्रचार होने से मूर्तिपूजा स्वतः बन्द हो जाएगी। अवतारवाद की चर्चा चलती तो भी यही कहते कि आर्षग्रन्थों के प्रचार से ये सब भ्रान्त विचार अपने आप दूर हो जाएंगे। अन्य सामाजिक कुरीतियों का समाधान भी यही बताते थे।

दण्डीजी जानते थे कि पाठशाला में पाणिनि की प्रतिष्ठा स्थापित करने मात्र से लक्ष्य सिद्ध नहीं होगा। अतः वे देश भर के पण्डितों को आर्ष-अनार्ष का भेद समझाना चाहते थे। परन्तु उन्हें एकत्रित कैसे किया जाए? कौन उनसे दण्डीजी का वार्तालाप करवाए? 'यथा राजा तथा प्रजा' के उस युग में राज्य-शक्ति के बिना यह सम्भव नहीं था। प्रायः राजा ही ऐसी सभाएँ बुलाया करते थे। भारत में प्राचीनकाल में यह परम्परा रही है कि जब भी वेदोक्त मान्यताओं के विपरीत कार्य होता तो कोई ऋषि या वेदज्ञ ब्राह्मण राजा से विद्वानों की सभा बुलवाकर निर्णय करवाने और तत्सम्बन्धी आदेश जारी करने का आग्रह करता था। यही दण्डीजी की इच्छा थी। परन्तु अंग्रेज़ उच्चाधिकारी सहायता देने को तैयार न थे। दण्डीजी के भक्त अलवर नरेश विनयसिंह का देहावसान हो चुका था। अब उन्हें जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह ही इस कार्य के लिए समर्थ दिखाई दिए। दण्डीजी उनसे सुपरिचित थे। वे उन्हें पहले भी कई

बार मिल चुके थे। यदा-कदा परस्पर पत्र-व्यवहार होता रहता था। राजा रामसिंह स्वयं भी वैष्णवों से संघर्षरत थे और दण्डी जी से विभिन्न सम्प्रदायों का मूल पूछते रहते थे। अत: उनकी सहायता से उन्होंने ग्रन्थ मर्यादा स्थापनार्थ पण्डितों की एक सार्वभौम सभा[7] बुलवानी चाही।

लॉर्ड केनिंग ने नवम्बर 1859 ई. में आगरा में दरबार किया। दरबार में राजस्थान तथा मध्यभारत के राजा बुलाए गए। दण्डीजी ने इसे उपयुक्त सुयोग समझा। जो साधु अलवर नरेश के अनुरोध पर भी न रुका था, आज वह स्वयं युगलकिशोर, जगन्नाथ चौबे आदि अपने कई शिष्यों के साथ महाराजा रामसिंह से मिलने आगरा आया है।[8] एक विशेष लक्ष्य दण्डी जी को यहाँ खींच लाया है। देश धर्म की पीड़ा लिए यह नि:स्पृह संन्यासी राजा के समक्ष उपस्थित है। न जाने कितने लम्बे समय के बाद एक साधु ऐसा उद्देश्य लेकर आया है। कभी यज्ञरक्षार्थ एक ऋषि राजदरबार में गया था। आज यह साधु आर्षग्रन्थ अभियान रूपी यज्ञ में राजा को यजमान बनाने आया है। सोच-समझकर इस राजा को चुना गया है।

निर्धारित समय पर दण्डीजी महाराजा से मिलने पहुँचे। महाराजा ने द्वार तक आगे आकर दण्डीजी का आदरपूर्वक स्वागत किया। स्वयं दण्डीजी का हाथ पकड़कर अपने साथ ले गए। उन्हें अपने आसन पर बैठाया। फिर स्वयं नीचे आसन ग्रहण किया। बूंदी के पण्डित केदारनाथ शास्त्री, रीवा के पण्डित पुरन्दर कवि,[9] तिरहुत के राजीवलोचन ओझा आदि भी वहाँ विद्यमान थे। दण्डीजी के विद्यार्थियों ने आशीर्वादात्मक मन्त्र पढ़े और दण्डीजी की ओर से राजा को एक यज्ञोपवीत, एक नारियल तथा मथुरा के पेड़े भेंट किए जिसे राजा ने कृतज्ञभाव से स्वीकार किया।

वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। महाराजा रामसिंह ने निवदेन किया — स्वामिन् ! किसी प्रकार हमें भी व्याकरण पढ़ा दीजिए ताकि हमें वेदार्थ का यथार्थ ज्ञान हो और हमारा मन आधुनिक सम्प्रदायों से हट जाए।

दण्डीजी बोले — आप व्याकरण-ग्रन्थ अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य नहीं सीख सकोगे क्योंकि इसके लिए प्रतिदिन तीन घंटे श्रम करना पड़ेगा।

महाराजा रामसिंह ने कहा — यदि अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य मुझे नहीं आ सकते तो कोई अन्य ग्रन्थ बनाकर मुझे पढ़ा दीजिए। दण्डीजी ने उत्तर दिया कि इन आर्षग्रन्थों का कोई विकल्प नहीं है।

तब अपने पधारने का प्रयोजन बतलाते हुए दण्डीजी बोले — हे राजन्! आज अनार्षग्रन्थों के पठन-पाठन के कारण बहुत अमंगल हो रहा है। इनके लेखक सामान्य जन हैं। वे तत्त्वदर्शी ऋषि नहीं हैं। अतः वे विषय-विशेष के यथार्थ भाव का निश्चय करने में असमर्थ हैं। ये अनार्षग्रन्थ ही भारत के पतन का कारण हैं। आर्षग्रन्थों की प्रतिष्ठा के बिना देश का कल्याण सम्भव नहीं है। शास्त्रों की मान्यता के विषय में मौलिक सुधार की आवश्यकता है परन्तु ब्राह्मण वेदहीन हो रहे हैं। असली क्षत्रियों का भी अभाव है। क्षत्रियों के बिना धर्म की रक्षा कौन करेगा? आप में कुछ क्षत्रियोचित गुण विद्यमान हैं। आप एक सार्वभौम वैयाकरण महासभा[10] का आयोजन कीजिए। इसपर लगभग तीन लाख रुपये व्यय होगा। गवर्नर जनरल से अनुमति ले लीजिए ताकि भारतवर्षीय भूपति भी दर्शक रूप में सभा-स्थल को अलंकृत करें। उसमें देशभर के पण्डितों को बुलाइए। उन्हें यथेष्ट दक्षिणा दीजिए। इस सभा में शास्त्रार्थ का विषय हो कि अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य ही व्याकरण के मुख्य ग्रन्थ हैं। मैं सिद्ध करूँगा कि कौमुदी, मनोरमा, न्यायमुक्तावली,[11] भागवतपुराण आदि तथा सभी नवीन सम्प्रदायी ग्रन्थ अशुद्ध हैं। इसमें लम्बा समय न लगेगा। मैं एक घंटे में ग्रन्थ-मर्यादा स्थापित कर दूँगा और सबको निश्चय करवा दूँगा कि वेदोक्त धर्म ही सत्य और सनातन धर्म है तथा आर्षग्रन्थों के पढ़ने से ही राजा-प्रजा दोनों का भला होगा। तब आप आदेश जारी कर अन्य ग्रन्थों का पठन-पाठन बन्द करवा देवें। इससे आपकी महती कीर्ति होगी। हम आपको वेदोक्त धर्म के रक्षक के रूप में विजय-पत्र दिलवा देंगे तथा महाराजा विक्रमादित्य की तरह आपका सम्वत् चलवा देंगे।

महाराजा चुपचाप सुनते रहे। फिर कुछ देर सोचते रहे। तत्पश्चात् सिर झुकाकर सार्वभौम सभा का आयोजन स्वीकार किया। बोले — आपका प्रस्ताव अत्युत्तम है परन्तु इसके लिए अभी समय उपयुक्त नहीं है। जयपुर पहुँचकर समय आने पर इस सभा का आयोजन अवश्य करूँगा। दीवान शिवदीनसिंह ने दण्डीजी से जयपुर चलने की प्रार्थना की। दण्डीजी बोले — यदि महाराजा कहें तो चल पड़ूँगा परन्तु महाराजा चुप रहे। अन्त में दण्डीजी ने राजा को क्षत्रियोचित कर्म करने के लिए प्रेरित करते हुए पुनः कहा —राजन्! व्याकरण विषयक सार्वभौम सभा करने से आपका बड़ा यश होगा। यूँ ही जीवन व्यतीत कर मृत्यु को प्राप्त होने वालों को बाद में कोई याद नहीं करता।

दण्डीजी को विदा करते समय राजा ने दो सौ मुद्राएँ, दो अशर्फ़ियाँ और एक दोशाला भेंट किया। दण्डीजी ने यह कहकर लेने से इनकार कर दिया कि मैं भेंट लेने नहीं आया। आज आने का प्रयोजन भिन्न है। इतना कहकर वे स्वस्थान के लिए चल पड़े। राजा ने बाद में यह भेंट वीतराग संन्यासी की कुटिया में मथुरा पहुँचा दी। साथ ही पन्द्रह रुपये मासिक व्यय के लिए निश्चित कर दिए।

दण्डीजी मथुरा पहुँचकर निरन्तर राजा के उत्तर की प्रतीक्षा करते रहे। उन्होंने राजा को सार्वभौम सभा का आयोजन करने की प्रतिज्ञा स्मरण करवाने के लिए लिए पत्र भी भेजा परन्तु कोई उत्तर न मिला। सम्भवत: परिवार के सदस्यों, मन्त्रियों एवं पण्डितों ने महाराजा रामसिंह को ऐसा करने से यह कहकर रोक दिया कि ऐसा करने से धर्म की हानि होगी। यदि जयपुराधीश द्वारा सभी राजा और उनके पण्डित एक सभा में बुलाए जाएंगे, तो अंग्रेज़ शासक रुष्ट हो सकता है — ऐसा भी कहा गया। राजा के वचन पालन न करने से दण्डीजी को बहुत निराशा हुई। तब उन्होंने कश्मीर के महाराजा रणवीरसिंह और ग्वालियर के जयाजीराव सिन्धिया को भी इस आशय के पत्र भेजे पर सब व्यर्थ। राजाओं से निराश होकर साम्राज्ञी विक्टोरिया को भी एक पत्र भेजा गया। साम्राज्ञी की भारत विषयक घोषणाएँ तो केवल घोषणाएँ ही थीं। उसे भारतीय धर्म एवं सत्-शास्त्रों में क्या रुचि थी?

सार्वभौम सभा के आयोजन की कोई आशा न रही। सब ओर से निराश होकर दण्डीजी प्राय: सोचा करते थे कि क्या उन्हें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा जो उनके वृद्ध कन्धों से यह गुरुतर कर्त्तव्यभार अपने ऊपर लेकर उन्हें चिन्ता-मुक्त कर दे? क्या उनका यह लोक-हितकारी चिन्तन उन्हीं के साथ समाप्त हो जाएगा? ऐसा सोचते-सोचते वे कई बार रोने लग जाते थे।

अब विरजानन्द स्वामी की एकमात्र आशा उनके छात्र थे परन्तु इस विस्मयोत्पादक आर्षज्ञान-ज्योति की तीव्रता को धारण करने की शक्ति सामान्य शिष्यों में नहीं थी। पण्डित गंगादत्त जैसा व्याकरण का धुरन्धर पण्डित भी दण्डीजी के देहावसान के बाद प्रचलित धारा में बहकर लघुकौमुदी ही पढ़ाता रहा। गुरु तो अपनी समूची साधना, तपस्या एवं चिन्तन की पूंजी देने के लिए उतावला है पर लेने वाले में भी तो सुपात्रता एवं क्षमता हो। आखिर इस महाज्योति को धारण करने वाला कोई उन्हीं के सदृश अखण्ड ब्रह्मचारी प्रभुभक्त तपस्वी अलौकिक पुरुष होना चाहिए।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. ऐसा ही ऋषि दयानन्द का सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास के अन्तिम पृष्ठ पर लेख है। उनके सभी ग्रन्थ **ओ३म्** अथवा **अथ** से आरम्भ होते हैं। **उन्होंने आर्ष तथा अनार्षग्रन्थों का भेद उनमें विवेचित विषयों के आधार पर किया है।** सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों की पहचान तथा त्याज्य ग्रन्थों के नाम लिखे हैं। उनके अनुसार मनुष्यकृत पुस्तकों का पढ़ना ऐसा है "जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना और आर्षग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना।"

2. दयानन्द सरस्वती ने अपने गुरुवर्य दण्डी स्वामी का अनुसरण करते हुए व्याकरण पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पर ही बल दिया है।

3. यथा व्याडिप्रोक्त व्याकरण ग्रन्थ 'संग्रह' का समय के साथ लोप हो गया तथा महाभाष्य का अध्ययन कई बार लुप्त हुआ (युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 194-209)।

4. रामप्रकाश (डॉक्टर), पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, पृष्ठ छ, ज

5. मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 120; यह बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में मथुरा क्षेत्र के संस्कृतपाठी ब्राह्मणों की हिन्दी का नमूना है।

6. ऋषिर्दर्शनात्

7. कुछ वर्ष पश्चात् विदेशी विद्वान् गोल्डस्टकर ने भी हिन्दुओं के धार्मिक विरोधों एवं मत-भिन्नताओं की समीक्षा हेतु धर्म-परिषद् की स्थापना का सुझाव दिया था (The Inspired Writings on Indology -- Literary Remains, Vol.II, pp. 47-48)।

8. पण्डित लेखराम के अनुसार जयपुर नरेश ने स्वयं "दण्डीजी महाराज को बुलाया और सत्कार से अपने यहाँ ठहराया। तीसरे दिन ... महाराजा जयपुर से दण्डीजी की मुलाकात हुई।" ऐसा ही लक्ष्मण आर्योपदेशक ने लिखा है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ऐसा नहीं मानते क्योंकि विद्याप्रसंग के अतिरिक्त किसी अन्य अनुरोध पर कहीं जाना उनके स्वभावानुकूल नहीं था (विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 132-33 पाद टिप्पणी)।

9. पुरन्दर कवि दण्डीजी को गुरु समान मानते थे और विधिवत् उनके शिष्य न होने पर भी गुरुपूजा के अवसर पर प्रति वर्ष दो-अढ़ाई सौ रुपये मथुरा भेजते थे।

10. इस प्रस्तावित सार्वभौम सभा का दण्डीजी रचित पद्य-गद्य मय विवरण परिशिष्ट 3 तथा जयपुर नरेश सवाई रामसिंह के नाम भेजा एकमात्र उपलब्ध पत्र परिशिष्ट 4 में प्रस्तुत हैं।

11. न्याय और वैशेषिक दर्शनों के विषयों को इकट्ठा करके अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। ऐसा ही विश्वनाथ भट्टाचार्य रचित एक ग्रन्थ भाषापरिच्छेद या कारिकावली है। न्यायमुक्तावली इस ग्रन्थ पर स्वयं विश्वनाथ भट्टाचार्य की लिखी टीका है। भट्टाचार्य का स्थितिकाल सतरहवीं सदी है। न्यायमुक्तावली पर दिनकरी, रामरुद्री, मंजूषा आदि अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं।

दयानन्द पदार्पण

यह 14 नवम्बर, 1860 अर्थात् 1917 वि. के कार्त्तिक मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया बुधवार का ऐतिहासिक दिन है।[1] यूँ तो मथुरा में प्रतिदिन भारी संख्या में साधु , संन्यासी एवं तीर्थयात्री आते रहते हैं परन्तु आज यहाँ एक दिव्य मूर्ति ने पदार्पण किया है। उसके ललाट पर भस्म रमी है। गले में रुद्राक्ष की माला है। सिर पर मुंडासा बँधा है। एक हाथ में लोटा है। दूसरे हाथ में लम्बा और मोटा दण्ड है। कुछ पुस्तकें पास हैं। कौपीन पहनी है। तन पर काषाय वस्त्र हैं। कद छह फुट से अधिक है। आयु छत्तीस वर्ष के लगभग है। गोरा रंग, सौम्य मुख, तेजस्वी आँखें, स्पष्ट, मधुर और गम्भीर आवाज़ तथा अंग-प्रत्यंग सुगठित हैं। चेहरे पर ब्रह्मचर्य का तेज है पर लम्बी यात्रा के कारण शरीर पर थकान का प्रभाव है। वार्तालाप में 'हमारूं तुमारूं' गुजराती शब्दों का प्रयोग करता है। इस साधु ने रंगेश्वर महादेव मन्दिर में आसन लगाया है।[2]

यह साधु एक विशेष उद्देश्य से मथुरा आया है। वर्षों से निरन्तर घूम रहा है। योगियों से मिला है। साधुओं के दर्शन किए हैं। वन-कन्दराएँ छान मारी हैं। परन्तु अब तक इसे न सच्चा शिव मिला है, न मृत्यु का रहस्य जान पाया है, न इसकी ज्ञान-पिपासा शान्त हुई है। अपने लम्बे भ्रमणकाल में यह साधु धर्म के नाम पर अनेक अन्धविश्वास, कुरीतियाँ एवं पाखण्ड देख रहा है। यह जानना चाहता है कि क्या यह सब कुछ शास्त्र-सम्मत है ? अभी कुछ वर्ष पूर्व (1855 ई. में) यह विद्या-प्राप्ति के लिए हरिद्वार में स्वामी पूर्णानन्द की सेवा में उपस्थित हुआ था। उनसे पढ़ाने का बहुत आग्रह किया था। पर वृद्धावस्था के कारण उनमें पढ़ाने की शक्ति शेष नहीं थी।[3] उन दिनों उन्होंने मौन धारण किया हुआ था। इसलिए लिखकर निर्देश किया — हम तो बहुत वृद्ध हो चुके हैं। व्याकरण पढ़ना चाहते हो तो मथुरा में मेरे योग्य शिष्य विरजानन्द के पास चले जाओ। वे तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे।

ईश्वर-प्राप्ति के लिए योगाभ्यास आवश्यक है। योग-सिद्धि के लिए शास्त्रज्ञान अनिवार्य है। शास्त्रज्ञान के लिए व्याकरण पर अधिकार चाहिए। व्याकरण का अधिकारी पण्डित प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी मथुरा में रहता है। उनके सदृश अष्टाध्यायी पर अधिकार भारत भर में किसी पण्डित का नहीं है।

अत: साधु उनके श्रीचरणों में उपस्थित होने के लिए मथुरा आया है।

कौन है यह साधु जो ज्ञानार्जन के लिए इतनी साधना कर रहा है? यह है बाल ब्रह्मचारी, सर्वस्व त्यागी, तपस्वी साधक, भारत-भाग्य-आकाश पर कालान्तर में उदय होने वाला सूर्य — दयानन्द। इसने सच्चे शिव को पाने तथा मृत्यु के रहस्य को जानने के लिए धन-धान्य से परिपूर्ण पिता के घर का परित्याग किया है परन्तु अभी मनोकामना अधूरी है। घोर काली अन्धेरी रात है। दयानन्द रवि अभी अनुदित है।

दयानन्द को मथुरा आते समय हाथरस में समाचार मिला कि इन दिनों दण्डी विरजानन्द का रंगाचार्य के गुरु अनन्ताचार्य[4] के साथ मुरसान में लगातार तीन महीने से शास्त्रार्थ चल रहा है। दयानन्द विरजानन्द के दर्शनों के लिए उत्सुक है। यही उत्कण्ठा उसे मुरसान में विपक्षी आचार्य से मिलाती है। वह अनन्ताचार्य से विरजानन्द का ठिकाना जानना चाहता है। अनन्ताचार्य बोले — विरजानन्द यहाँ नहीं हैं। वे तो मथुरा चले गए हैं। उनका नियम है कि वे मथुरा से बाहर रात व्यतीत नहीं करते, अत: सायंकाल से पूर्व ही मथुरा लौट जाते हैं। बातचीत में दयानन्द को लगा कि आचार्य शास्त्रार्थ-समर में दण्डीजी से परास्त हो गए हैं। तो भी दयानन्द ने कहा — चलो, वहीं चलें। देखें तो सही कि वे कैसे तार्किक हैं। अनन्ताचार्य ने उत्तर दिया — विरजानन्द साधारण विद्वान् नहीं है। उसका अष्टाध्यायी और महाभाष्य पर पूर्णाधिकार है। अनन्ताचार्य ने मथुरा चलना स्वीकार न किया। बड़ी मुश्किल से तो उन्होंने विरजानन्द से यह कहकर पीछा छुड़वाया है कि अब वे पत्र-व्यवहार द्वारा ही शास्त्रार्थ करेंगे। उन्होंने आमने-सामने शास्त्रार्थ में स्वयं को असमर्थ पाया है।

दयानन्द मुरसान से चलकर सीधा मथुरा आया है। कुछ दिन रंगेश्वर मन्दिर में ठहरकर ज्ञानाभिलाषी साधु ने आज दण्डीजी की कुटिया का दरवाजा खटखटाया है। यथापूर्व द्वार अन्दर से बन्द है। आहट सुनकर दण्डीजी ने कहा — कौन है? उत्तर मिला — दयानन्द सरस्वती। दण्डीजी ने वही प्रश्न पूछा जो उन दिनों अन्य विद्यार्थियों से पूछते थे — कुछ व्याकरण भी पढ़े हो?

हाँ, महाराज! सारस्वत आदि व्याकरण-ग्रन्थ पढ़े हैं — उत्तर दिया। तब द्वार खोल दिया गया। अन्दर प्रवेश पाकर दयानन्द सरस्वती ने सादर प्रणाम किया और फिर उपस्थित होने का कारण कह सुनाया। दण्डीजी बोले — जो मनुष्यकृत ग्रन्थ आज तक पढ़े हैं, वे अनार्षग्रन्थ हैं। उन्हें पूर्णतया भूल जाओ।

जब तक तुम पर इन ग्रन्थों का प्रभाव रहेगा, ऋषिप्रणीत आर्षग्रन्थों का तुम्हारे हृदय में प्रकाश न हो सकेगा।

अपनी बात समझाते हुए कहा — दयानन्द! आधुनिक ग्रन्थों के रचयिता कितने क्षुद्राशय लोग हैं, इसका अनुमान तुम सारस्वत के रचयिता अनुभूतिस्वरूपाचार्य की कथा से लगा लो। वृद्धावस्था के कारण अनुभूतिस्वरूपाचार्य के अगले दांत टूट गए थे। एक बार उसके मुख से पुंसु शब्द के स्थान में पुंक्षु निकल गया। यह सुनकर अन्य विद्वानों ने वृद्ध आचार्य का उपहास किया। उसने भी अपनी उच्चारण-अशुद्धि स्वीकार न की और घर आकर एक रात में अपने पक्ष-पोषण में सात सौ सूत्रों का सारस्वत व्याकरण रच डाला। भला, ऐसे ग्रन्थों के पढ़ने से यथार्थ-ज्ञान कैसे हो सकता है? इसलिए तुम्हारे पास जो भी आधुनिक पुस्तकें हैं, उन्हें यमुना में बहा दो। दण्डीजी ने आगे कहा — एक बात और सुनो। मैं संन्यासी को नहीं पढ़ाया करता। उसके भोजन तथा निवास आदि की निश्चित व्यवस्था नहीं होती। इसलिए वह निश्चिन्त होकर पढ़ने में एकाग्रचित्त नहीं हो सकता। तुम पहले अपने निवास वा भोजनादि की व्यवस्था करके आओ।

दण्डीजी ने कहा कि "तीन वर्ष में व्याकरण आ जाता है।" यह सुनकर दयानन्द सरस्वती ने "उनके पास पढ़ने का पक्का निश्चय कर लिया।"[5] बोले — महाराज! आप पढ़ाना आरम्भ कीजिए। भोजनादि के विषय में मैं शीघ्र निश्चिन्तता प्राप्त कर लूँगा। दयानन्द ने अनुभव किया कि यही वह व्यक्तित्व है जिसकी उसे खोज थी। अपने भ्रमण-काल में दयानन्द को अनेक विद्वान् मिले पर उनमें कोई भी विरजानन्द के समान वेदों का ज्ञाता और प्रचलित धार्मिक विश्वासों को परखने की तार्किक क्षमता रखने वाला न था। इसीलिए तथास्तु कहकर आज्ञा-पालन करने चल पड़े। वीतराग साधु की कुल सम्पदा यही कुछ पुस्तकें थीं। न जाने कहाँ-कहाँ से प्राप्त की होंगी। दण्डीजी का आदेश न केवल उन्हें यमुना में प्रवाहित करने का है, अपितु जो अब तक पढ़ा है, वह भी विस्मृत करना है। पात्र को खाली करने का, मांजने का आदेश है इस गुरु का, ताकि उसमें यथार्थ-ज्ञान समा सके। पात्र खाली ही न करोगे तो भरोगे क्या? बस, दयानन्द ने सभी पुस्तकें अविलम्ब यमुना में बहा दीं।

उन दिनों भोजन की सुनिश्चित व्यवस्था करना आसान न था। तब समूचा पश्चिमोत्तर भारत भयंकर अकाल से पीड़ित था।[6] जनता एक-एक दाने को

तरस रही थी। बेबस माताओं की आँखों के सामने उनके पुत्र भूख से दम तोड़ रहे थे। साधु को भोजन देना तो दूर की बात थी। वैसे भी साधु को आवश्यकता पड़ने पर जो मिल गया, सो खा लिया। सुनिश्चित व्यवस्था और साधु का क्या मेल ? पर आज वह केवल साधु नहीं है, शिष्यत्व ग्रहण करने लगा है। अत: विद्यार्थी जीवन के नियमों का पालन करना ही पड़ेगा। पर दण्डीजी ने यह शर्त क्यों लगाई ? कहीं दयानन्द के व्याकरण पढ़ने के दृढ़ संकल्प की परीक्षा तो नहीं ले रहे थे ? अन्यथा शिष्य-वत्सल दण्डीजी यह व्यवस्था स्वयं अपेक्षाकृत आसानी से कर सकते थे। कुछ भी हो, दयानन्द ने यह भी स्वीकार कर लिया। उसे ज्ञानामृत चाहिए। भले उसके लिए कुछ भी करना पड़े।

आरम्भ में दुर्गाप्रसाद खत्री ने भुने हुए चनों की व्यवस्था कर दी। काफी समय दयानन्द सरस्वती ने केवल चने खाकर निर्वाह किया। फिर उनका परिचय एक गुजराती औदीच्य ब्राह्मण जोशी बाबा अमरलाल से हो गया। उसकी हवेली पर अनेकों पण्डित प्रतिदिन भोजन करते थे। उसने इस साधु के भोजन की जिम्मेवारी ले ली और इसे इतनी भावना से निभाया कि स्वामी दयानन्द ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया, "मथुरा में एक भद्रपुरुष अमरलाल नामक थे, उन्होंने मेरे पढ़ने के समय में जो-जो उपकार मेरे साथ किए मैं उनको भूल नहीं सकता। पुस्तकों और खाने-पीने का प्रबन्ध सब उन्होंने बड़ी उत्तमता से कर दिया।"[7] इस तरह अमरलाल की हवेली में स्वामीजी को भोजन मिलता रहा। अमरलाल का यह योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। भोजन की सही व्यवस्था के बिना दण्डीजी पढ़ाने से इनकार कर सकते थे। नदी किनारे पहुँचकर भी प्यासा अपनी प्यास न बुझा पाता। इस अन्नदान के लिए स्वामी दयानन्द ही नहीं अपितु समूचा आर्य-जगत् अमरलाल का ऋणी है।

स्वामी दयानन्द ने विश्रामघाट के ऊपरी भाग में स्थित लक्ष्मीनारायण मन्दिर में रहने की स्थायी व्यवस्था कर ली। इस मन्दिर में नीचे की मंज़िल में एक छोटी-सी कोठड़ी में रहने लगे। यह कोठड़ी मन्दिर के द्वार में प्रवेश करते ही दाएं भाग में थी। कोठड़ी इतनी छोटी थी कि स्वामीजी कठिनाई से पाँव पसार पाते थे। छत्ता बाजार के खेतामल पुत्र नन्नूमल सर्राफ[8] ने तेल के लिए चार आने मासिक देना आरम्भ कर दिया। इससे स्वामीजी को रात के समय पढ़ने की सुविधा हो गई। हरदेव पत्थर वाले दूध के लिए प्रति मास दो रुपये देते थे। इस प्रकार भोजन तथा निवास की सही व्यवस्था हो गई।

अब दण्डीजी ने दयानन्द सरस्वती को अष्टाध्यायी द्वितीयावृत्ति के अनुसार पढ़ानी आरम्भ की (द्रष्टव्य: पृष्ठ 101)। फिर उन्हें महाभाष्य पढ़ाया गया। दण्डी जी किसी टीका, वृत्ति अथवा भाष्यादि के बिना पढ़ाते थे। वे अपनी सर्व-विषयग्राहिणी स्मृतिशक्ति के प्रभाव से अपने शिष्यों को व्याकरण, दर्शन, साहित्य, संहिता, वेद तथा वेदान्त के सब प्रकार के तत्त्वों को बातों-बातों में ही समझा देते थे।[9क] साधु दयानन्द ने अनुभव किया कि "जैसे सूर्यमण्डल से तेजोराशि विनि:सृत होती है, जैसे झरने से जलधारा बहती है, वैसे ही विरजानन्द की वागिन्द्रिय से भी नाना शास्त्रों की नाना व्याख्या अविरत रूप से निकलकर शिष्य मण्डली को विस्मित करती है। स्वयं चक्षुहीन होने पर भी वह प्रज्ञा की चक्षु के प्रभाव से सब शास्त्रों के सब स्थानों का दर्शन करके जिज्ञासित विषय की सुचारु मीमांसा कर देते थे और शरीर के पञ्चराशिमात्र में पर्यवसित हो जाने पर भी वे युवकजनोचित उत्साह और तेजस्विता के साथ अध्यापन में रत रहते थे।"[10]

साधु दयानन्द बहुत सवेरे उठते, दूर तक भ्रमण करने जाते और फिर आसनादि करते। स्नानादि से निवृत्त होकर सन्ध्योपासना में बैठ जाते और योगाभ्यास करते। फिर अति नियमपूर्वक निश्चित समय पर दण्डीजी के चरणों में अध्ययनार्थ उपस्थित हो जाते थे। अद्भुत प्रतिभा के धनी दयानन्द मनोयोगपूर्वक विद्यार्जन में बहुत परिश्रम करते थे। वास्तविकता तो यह है कि अब तक न विरजानन्द को ऐसा शिष्य मिला था, और न ही दयानन्द को ऐसा विद्यागुरु। यदि शिष्य मेधावी था तो इस गुरु के सदृश व्याकरण का पण्डित भी भारत भू पर अन्य कोई नहीं था। जौहरी को हीरा मिल गया और हीरा भी सही हाथों में पहुँच गया। गुरु-शिष्य दोनों ही अखण्ड ब्रह्मचारी, दोनों वीतराग संन्यासी, दोनों योगाभ्यासी ईश्वर-भक्त, दोनों सत्यान्वेषी, दोनों स्पष्टवादी, दोनों को लीपापोती व दिखावे से घृणा, दोनों रूढ़ियों एवं पाखण्डों के विरोधी, दोनों वेदोक्त मार्ग के साधक थे। विचित्र मिलन था। दोनों के मिलन का काल भी महत्त्वपूर्ण था। गुरु-कुटिया पाणिनि-युग में परिवर्तित हो चुकी थी। दयानन्द इस से पहले मथुरा आ जाते, तो भूमि तैयार न थी। तब यहाँ भी कौमुदी पढ़ाई जाती थी। तब इस पाठशाला में कोई विलक्षणता न थी। यदि दयानन्द और विलम्ब से मथुरा पधारते तो तब तक दण्डीजी की जराजीर्ण काया समय के साथ और क्षीण हो गई होती।

स्वामी दयानन्द शाम के समय प्रायः संस्कृत में बातचीत करते थे। वे देर रात तक पढ़ते रहते थे। वार्तालाप में वैष्णवों की कण्ठी व तिलकादि को निषिद्ध बताते थे। विभिन्न सम्प्रदायों का कुछ-कुछ खण्डन करते थे। वे सन्ध्या-अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों पर बल देते थे। ब्रह्मचर्य-पालन का उपदेश किया करते थे। उनका मूर्तिपूजा में कोई विश्वास नहीं था।[11] उनके इन विचारों को स्वामी विरजानन्द का पूर्ण समर्थन मिला।

अल्प समय में ही दयानन्द दण्डीजी के वात्सल्य के पात्र और आशाओं के केंद्र बन गए। दोनों में खून के रिश्ते से कहीं अधिक निकटता थी। दयानन्द की श्रीचरणों में अपार श्रद्धा थी। वे दण्डीजी के ब्राह्ममुहूर्त में स्नान के लिए पर्याप्त जल यमुना से बहुत सवेरे ही ले आते थे। इस तरह दण्डीजी के सायंकाल के स्नान तथा पीने के लिए भी यमुना के जल से भरे घड़े गुरु-भक्त शिष्य कंधे पर उठाकर नित्य प्रति लाता था।[12] यह नियम कभी भंग न होता — चाहे अतिवृष्टि होती, चाहे शीत-लहर चलती।

ब्रह्मचारी दयानन्द की स्मरण-शक्ति तेज थी। एक दो बार सुनकर पाठ स्मरण हो जाता था। दण्डीजी भी यह जानते थे। अन्य शिष्यों की भाँति दयानन्द गुरुजी से बार-बार पाठ नहीं पूछते थे परन्तु एक दिन अष्टाध्यायी की एक प्रयोग-सिद्धि[13] उन्हें विस्मृत हो गई। बहुत प्रयत्न किया परन्तु स्मरण न कर पाए। दूसरे दिन पढ़ने गए तो वे सूत्र न सुना सके। उन्होंने दण्डीजी से पुनः बताने की प्रार्थना की। दण्डीजी न माने। बोले — जाओ, स्मरण करके आओ। हम बार-बार नहीं बताएँगे। मस्तिष्क पर पूरा दबाव डालने पर भी न प्रयोग-सिद्धि स्मरण हुई, न लगातार तीन-चार दिन अनुनय-विनय करने पर भी दण्डीजी बताने को उद्यत हुए। दयानन्द ने बहुतेरा कहा — कृपया एक बार समझा दीजिए। कुपित होकर दण्डीजी बोले — हमने कह तो दिया कि पहले पिछला पाठ सुनाओ तब आगे पढ़ाएँगे। अन्तिम बार सुनलो। या तो याद करके आओ, नहीं तो मेरे पास मत आना; भले ही यमुना में डूब मरो।

दयानन्द सरस्वती ने दण्डीजी के चरण-स्पर्श किए और कुटिया से चल पड़े। यमुना के विश्रामघाट के निकट सीताघाट के शिखर पर एकान्त में बैठकर विस्मृत पाठ को स्मरण करने लगे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि प्रयोग-सिद्धि स्मरण न आई तो यमुना के जल में स्वयं को लीन कर लेंगे। वे इतने एकाग्रचित्त हुए कि उन्हें अपनी भी सुध न रही। प्रभुकृपा से विस्मृत

पाठ याद आ गया। प्रसन्नचित्त दयानन्द ने तुरन्त श्रीचरणों में उपस्थित होकर पाठ सुना दिया। दण्डीजी बहुत प्रसन्न हुए और दयानन्द को छाती से लगा लिया। सजल नेत्र गुरु ने शिष्य को आशीर्वाद दिया।

पन्द्रह-बीस घड़े जल लाने के लिए उन्हें प्रतिदिन यमुना तक कई बार जाना पड़ता था। आते-जाते यह आदर्श अखण्ड ब्रह्मचारी साधु कभी आँख उठाकर इधर-उधर न देखता था। नीची नजर किए चलता रहता था। उसकी दृष्टि कभी किसी स्त्री के मुख पर न पड़ती थी। तभी तो पण्डित मुकुन्ददेव ने लिखा है, ''स्वामि दयानन्द जी में साहस, गाम्भीर्य आदि तो गुण थे ही परन्तु ब्रह्मचर्य गुण अद्वितीय वा लोकोत्तर था जिस एक गुण का होना भी आजकल असंभव ही है।''[14] एक बार वे यमुना की रेती में पद्मासन लगाए ध्यानावस्थित थे। स्नान करके जा रही एक देवी की नजर इस भव्य मूर्ति पर पड़ी। श्रद्धा से अभिभूत देवी ने साधु के चरणों में सिर टेक दिया। भीगे वस्त्र का स्पर्श होते ही स्वामीजी ने आँख खोली तो एक देवी को नतमस्तक पाया। अनायास उनके मुखारविन्द से माता, माता निकला। ब्रह्मचारी दयानन्द ने इतने स्त्री-स्पर्श को भी पाप समझा। तुरन्त वहाँ से उठ खड़े हुए। गोवर्द्धन की ओर जा एक जीर्ण मन्दिर के एकान्त में तीन दिन और तीन रात निराहार रहकर निरन्तर ध्यानावस्थित रहे। चौथे दिन जब पाठशाला में आए तो दण्डीजी ने अनुपस्थिति का कारण पूछा। सामान्य स्त्री-स्पर्श के कारण इतना प्रायश्चित्त करने की कथा सुनकर दण्डीजी रोमांचित हो गए और ब्रह्मचारी साधु को आशीर्वाद देने लगे।

शिष्यों से पितृवत् स्नेह करने वाले दण्डीजी कभी-कभी नाराज़ हो जाते थे। दयानन्द ने कभी इसका बुरा न मनाया। दण्डीजी पौराणिक परिवार में जन्मे थे। पौराणिक पण्डितों से ही पढ़े थे। उनके विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन धीरे-धीरे आया था। अतः संस्कारवश अभी भी दुर्गापाठ करते थे। एक दिन स्वामी दयानन्द ने प्रतिवाद कर दिया। दण्डीजी ने नाराज़ होकर उन्हें इतने जोर से डण्डा मारा कि दण्डीजी का हाथ दर्द करने लग गया। दयानन्द की बाजू पर भी चोट का निशान पड़ गया। दयानन्द बोले — गुरुवर ! मुझे पीटने से आपको कष्ट पहुँचता है। आप मुझे मत मारिए। इस शरीर का क्या है? यह तो वज्रवत् कठोर है। आपके हाथ कोमल हैं। बाजू के इस निशान को देखकर दयानन्द सदैव गुरु-कृपा का स्मरण किया करते थे।[15]

एक दिन जब दण्डीजी ने दयानन्द सरस्वती को सोटा मारा तो पास बैठे

नयनसुख जड़िया बोले — स्वामीजी! ये दयानन्द हमारे समान गृहस्थी नहीं हैं। ये तो संन्यासी हैं। इनका विशेष ध्यान रखना चाहिए। इनके प्रति न कठोर शब्द कहना उचित है और न मारना। दण्डीजी को जड़ियाजी की बात जची। तत्काल कहने लगे — ठीक है। आगे से हम इन्हें विशेष आदरपूर्वक पढ़ाएँगे। जब अन्य विद्यार्थी चले गए तो दयानन्द सरस्वती बोले — नयनसुख ! आज तुमने अच्छा नहीं किया। गुरुजी हमारे हित में ताड़ते हैं, द्वेष से नहीं। उनकी ताड़ना में आशीर्वाद छिपा है। कुम्हार घड़े को पीट-पीटकर बनाता है। यदि वह ऐसा न करे तो सुन्दर एवं सुडोल घड़ा कैसे बने?

दण्डीजी की ब्रजक्षेत्र में विद्यमानता के कारण रंगाचार्य का एक विद्वान् के रूप में वह प्रभाव स्थापित नहीं हो पा रहा था, जो वे धन-वैभव के सहारे चाहते थे। अतः बार-बार दोनों पक्षों के मध्य शास्त्रार्थ की स्थिति बनती रहती थी। इस बार दण्डीजी का शास्त्रार्थ वृन्दावन में रंगाचार्य के साथ हुआ। स्वामी दयानन्द भी शास्त्रार्थ के समय उपस्थित थे। रंगाचार्य के एक चेले ने संस्कृत में सम्वाद आरम्भ किया। उसका उच्चारण बहुत अशुद्ध था। स्वामी दयानन्द ने आक्षेप किया और उसकी अशुद्धि बताई परन्तु दण्डीजी ने स्वामी दयानन्द को ऐसा करने से रोक दिया।

दण्डीजी अनुशासन के विषय में बहुत कठोर थे। उन्होंने एक-दो बार स्वामी दयानन्द के लिए भी पाठशाला का द्वार बन्द कर दिया था। एक दिन दण्डीजी का कोई सम्बन्धी मथुरा आया। उसने दण्डीजी के दर्शन करने चाहे। परन्तु केवल दर्शनार्थियों के लिए द्वार प्रायः बन्द रहता था। विद्यार्थियों को ही अन्दर जाने की अनुमति थी। अतः वह भीतर जाए तो कैसे जाए? मथुरा आकर भी दर्शनलाभ से वंचित था। उसने सरल स्वभाव दयानन्द से मिलकर विनती की — मैं बहुत दूर से आया हूँ। न जाने फिर आना हो या न हो। किसी प्रकार दण्डीजी के दर्शन करवा दीजिए। साधु दयानन्द ने बहुत समझाया कि दण्डीजी विद्यार्थियों के सिवाय किसी का भीतर प्रवेश पसन्द नहीं करते। अतः तुम्हारे लिए पट बन्द रहेंगे। आगन्तुक ने विनती की — मुझे अपने साथ भीतर ले चलिए। दयानन्द बोले —गुरुवर अप्रसन्न हो जाएँगे। दर्शनाभिलाषी ने दयानन्द के चरण पकड़ लिए। वह स्थिति की गम्भीरता को समझ नहीं रहा था। अतः कहने लगा — मेरे लिए नाराज़गी सह लीजिए। मैं दर्शन अवश्य करना चाहता हूँ। दयालु दयानन्द पसीज गए और उसे अपने साथ ऊपर ले

गए। वह सज्जन कुछ देर चुपचाप श्रीमहाराज के दर्शन करता रहा। फिर स्वामी दयानन्द का संकेत पाकर पीछे हट गया। स्वामीजी भी विश्रामघाट जाने के लिए उसके साथ सीढ़ियाँ उतरने लगे। तभी उन्हें एक सहाध्यायी ऊपर आता मिला। दयानन्द ने उसे संकेत से समझा दिया कि दण्डीजी से कुछ न कहना परन्तु उसने ऊपर जाकर दण्डीजी से जान-बूझकर कहा — गुरुजी! दयानन्द के साथ यह ऊपर कौन आया था? वेशभूषा से तो पंजाबी लगता था। बिना अनमुति के कोई ऊपर आया और लौट गया — यह जानकर दण्डीजी बहुत नाराज़ हुए। दयानन्द की खूब ताड़ना की। यहाँ तक कह दिया —मुझे नेत्रहीन जानकर तुमने ऐसा किया है। चले जाओ। तुम्हारे लिए ड्योढ़ी बन्द है। दयानन्द सरस्वती ने सारी बात कह सुनाई। चरण पकड़कर क्षमा-याचना की परन्तु दण्डीजी न माने। आखिर नयनसुख जड़िया की प्रार्थना पर पुनः प्रवेश की अनुमति मिली।

एक बार फिर दण्डीजी रुष्ट हो गए। तब शिक्षा-समाप्ति में पन्द्रह-बीस दिन ही शेष थे। दयानन्द स्वामी को ऊपर बैठने के स्थान पर झाड़ू लगाने का आदेश हुआ। उन्होंने झाड़ू लगाकर कूड़ा एक कोने में कर दिया। अभी उसे उठाना ही चाहते थे कि दण्डीजी का पाँव कूड़े पर पड़ गया। दण्डीजी ने सोचा कि दयानन्द ने कूड़ा उठाने में आलस्य किया है। बस, गुरु जी ने पुनः प्रवेश बन्द कर दिया। अब विद्याध्ययन की समाप्ति निकट थी परन्तु दयानन्द सरस्वती नहीं चाहते थे कि गुरुजी उनके प्रति उदासीन हो जाएँ। अतः स्वयं भी क्षमा मांगी और नन्दन चौबे तथा नयनसुख जड़िया से भी सिफ़ारिश करवाई। दण्डीजी का गुस्सा भी क्षणिक था। दयानन्द से उन्हें वैसे भी बहुत आशाएँ थीं। अतः फिर प्रसन्न हो अनुमति प्रदान कर दी। दयानन्द सरस्वती की मनःस्थिति के विषय में स्वामी सत्यानन्द ने ठीक लिखा था — "जैसे पवन-कम्पित प्रफुल्ल पद्म पर से भ्रमर उड़कर फिर पराग के अनुराग से वहीं आ बैठता है, ऐसे ही गुरु-गुण-गरिमा से मोहित श्री दयानन्दजी तिरस्कार होने पर भी गुरु-चरणों के समीप बार-बार आ जाते थे।"[16]

दयानन्द अन्य शिष्यों की तरह नहीं थे। वे बार-बार प्रश्न करते थे। दण्डीजी उनकी शंकाओं का समाधान करते रहते थे। शास्त्र-चर्चा करते-करते कई बार तो गुरु-शिष्य में शास्त्रार्थ ही छिड़ जाता था। गुरुवर भले ही एक प्रकाण्ड वैदिक विद्वान् , वैयाकरण एवं महान् वाग्मी थे; परन्तु शिष्य भी कुछ

कम न था। दयानन्द को अजेय पाकर कई बार दण्डीजी खुशी से कहते — दयानन्द! तुम से कौन वाद-विवाद करे? तुम तो कालजिह्व[17] हो। जैसे काल सब पर बली है, वैसे तुम्हारी तर्क-शक्ति भी प्रबल है। तुझ कुलक्कर[17] को कौन हराए?

गुरु-शिष्य परस्पर घण्टों विचार-विमर्श करते रहते। ऐसा वार्तालाप एकान्त में होता था। किन शास्त्रों पर चर्चा होती, किन बिन्दुओं की मीमांसा की जाती — यह कुछ भी ज्ञात नहीं है। दण्डीजी दयानन्द को अपना योग्यतम शिष्य मानते थे। उन्हें जो आनन्द उसे पढ़ाते आता था, वह किसी अन्य को पढ़ाते प्राप्त न होता था। ''पढ़ाते-पढ़ाते दण्डी जी को यह ज्ञात हो गया था कि दयानन्द केवल विद्यार्थी ही नहीं है, अपितु भारत का सुधार प्रार्थी भी है। वे यह भी समझ गये थे कि जैसे कोई योद्धा समरभूमि में पदार्पण करने से पहले अस्त्र ग्रहण करने के लिए अस्त्रागार में आता है, ऐसे ही शास्त्र के रणक्षेत्र में अवतीर्ण होने से पहले दयानन्द योद्धा शास्त्रागार रूपी पाठशाला में आया है।''[१७ख] उन्हें लगता था कि केवल दयानन्द ही उन्हें समझ पाया है और वही उनका ध्येय पूरा करेगा। स्वामी दयानन्द के हृदय में भी दण्डीजी के लिए अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने दण्डीजी को न केवल अपना गुरु स्वीकार किया, अपितु अपने ग्रन्थों में उन्हें 'परम विद्वान्' एवं 'महाविद्वान्' घोषित किया।[18] यही एक मात्र व्यक्तित्व है जिसके सान्निध्य में वे लगातार अढ़ाई वर्ष रहे और बाद में भी शंका-समाधान के लिए उपस्थित होते रहे।

मथुरा पधारने से पूर्व दयानन्द का उच्चारण अधिक शुद्ध न था। यहाँ रहकर उन्होंने उच्चारण-शुद्धि प्राप्त की। साधु दयानन्द ने दण्डीजी से विशेष रूप से अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़े। उन्होंने इन पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया कि कालान्तर में कोई पण्डित उनसे लोहा न ले सका। दण्डीजी की प्रेरणा से नगर से इकत्तीस रुपये चन्दा करके दयानन्द के लिए महाभाष्य की प्रति मंगवाई गई थी। इन दो व्याकरण-ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने वेदार्थ समझने में सहायक निरुक्त और निघण्टु का अध्ययन भी किया। वेदान्त दर्शन तथा कुछ अन्य ग्रन्थ भी पढ़े। यजुर्वेद तो उन्हें पितृगृह के दिनों से ही कण्ठस्थ था। भ्रमणकाल में कुछ वेदान्त ग्रन्थ भी पढ़े थे परन्तु मथुरा पहुँचने तक उनका वेदों से कोई सम्बन्ध न रहा। गुरुचरणों में रहकर दयानन्द सरस्वती ने व्याकरण के अतिरिक्त कौन-कौन से ग्रन्थ पढ़े — यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा

सकता। बावा अर्जुनसिंह के अनुसार दण्डीजी वर्णोच्चारण शिक्षा से आरम्भ कर स्वामी दयानन्द को पदे-पदे वेद तक ले गए।[19] देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है कि वे अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ने "के पश्चात् उपनिषद् , मनुस्मृति, ब्रह्मसूत्र और पतंजलि के योगसूत्र प्रभृति दर्शनशास्त्रों को अध्ययन करने लगे और क्रमश: वेद और वेदांगों के भी पाठ में प्रवृत हुए।"[20] पर यहाँ रहते हुए उन्होंने किसी वेद संहिता का आद्योपान्त अध्ययन किया हो — ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

कुछ लेखक मानते हैं कि दयानन्द ने दण्डीजी से केवल व्याकरण पढ़ा, और कुछ नहीं[21] परन्तु यह कैसे सम्भव है कि जिस आर्ष-अनार्ष ग्रन्थ निर्णय के लिए दण्डीजी ने पूरा एक दशक (1859-1868) लगा दिया तथा किसी भी पण्डित से एतद्-विषयक चर्चा अथवा शास्त्रार्थ का अवसर हाथ से न जाने दिया, वह चिन्तन वे अढ़ाई साल की लम्बी अवधि में अपनी आशा के केन्द्र-बिन्दु दयानन्द से सांझा न करते। वे तो व्याकरण मानते ही वेदादि के अध्ययन के लिए थे। अत: संहिता विशेष भले ही न पढ़ाई हो पर यत्र-तत्र वेद से उदाहरण देकर व्याकरण समझाना तो स्वाभाविक था। स्वामी दयानन्द ने भी गुरु से जितना पढ़ा, उससे कहीं अधिक सीखा। यद्यपि अभी वैदिक साहित्य का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना शेष था परन्तु यहाँ उन्हें आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों के विवेक की सूझ अवश्य प्राप्त हुई थी।

दण्डीजी के शिष्यत्व में उनकी यह धारणा बनी कि चारों वेद संहिताएँ ही स्वत: प्रमाण हैं और प्राचीन धर्म के वास्तविक स्रोत वेद तथा ऋषिप्रणीत ग्रन्थ हैं। विरजानन्द ने दयानन्द को वैदिक धर्म की पुरानी जड़ों से जोड़ा और यह निश्चय करवा दिया कि महाभारत युद्ध के पश्चात् इस आर्यावर्त देश का जो पतन हुआ तथा विश्व को उच्च सभ्यता देने वाली प्राचीनतम आर्य जाति के स्वर्ण युग का जो नाश हुआ, उसका पुनरुद्धार केवल आर्षग्रन्थों में ही निहित है। इसीलिए उनका मत था कि प्रत्येक ग्रन्थ को वेद प्रामाण्य की कसौटी पर कसा जाना चाहिए और उसकी पुन: व्याख्या की जानी चाहिए।[22] दयानन्द को गुरु ने यह निश्चय करवा दिया था कि वेदों की शिक्षाओं के प्रकाश को अनार्ष-ग्रन्थों के मिथ्यावादों के बादलों ने ढाँप लिया है, अत: प्रचलित हिन्दू विश्वासों को वेदों की विशुद्ध शिक्षाओं की ओर ले जाना अनिवार्य है ताकि वर्तमान को बचाया जा सके और भविष्य भी सुरक्षित हो पाए।

कालान्तर में वेद-भाष्य की जो शैली दयानन्द सरस्वती ने अपनाई, वह

भले ही उन्होंने स्वगुरु से न सीखी हो परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनके चिन्तन को दण्डीजी से एक निश्चित दिशा प्राप्त हुई। वेदों में निष्ठा, आर्षग्रन्थों को प्रामाणिक तथा पुराणों को मिथ्या मानना, मूर्तिपूजा का खण्डन और वैष्णवादि मतों की व्यर्थता की पहचान भी दयानन्द ने दण्डीजी से ली। अनार्षग्रन्थों में जिस पुस्तक पर यहाँ उनका ध्यान सर्वाधिक आकर्षित हुआ, वह थी भागवतपुराण। कविरत्न नवनीत के सुपुत्र पण्डित गोविन्द[23] के अनुसार उन्हें दण्डीजी से निम्नलिखित चतुस्सूत्री सिद्धान्त प्राप्त हुआ —

(क) मूर्ति-पूजा वेद विरुद्ध है, (ख) मृतक-श्राद्ध वेद विहित नहीं है, (ग) विधवा-विवाह वेद वर्जित नहीं है, और (घ) कैसा भी पतित हो यज्ञयागादि प्रायश्चित से शुद्ध हो सकता है।

पण्डित गोविन्द की इस साक्षी से यह स्पष्ट है कि दण्डीजी वेद को ही प्रमाण मानते थे और इसी के आधार पर उचित-अनुचित का निर्णय करते थे।

अतः दण्डीजी के चिन्तन से स्वामी दयानन्द ने निज अध्ययनकाल में धर्म की मौलिक प्रकृति एवं विभिन्न सम्प्रदायों के विषय में कुछ निश्चित धारणाएँ प्राप्त कीं। उनके विचारों पर केवल शास्त्र-अध्ययन ही नहीं, अपितु दण्डीजी के निजी व्यक्तित्व, जीवन, चिन्तन, भाषा एवं कार्य पद्धति[24] तथा मथुरा के वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ा। दयानन्द सर्वाधिक पवित्र माने जाने वाले विश्राम घाट पर स्थित लक्ष्मीनारायण मन्दिर में रहते थे। गुरु-कुटिया भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सड़क पर थी। इसलिए दयानन्द को बहुत निकटता से हिन्दुत्व को देखने और उसकी पतितावस्था को समझने का अवसर मिला। गुरु-कुटिया दयानन्द की कक्षा-स्थल थी तो मथुरा नगरी उनकी प्रयोगशाला। धीरे-धीरे उनकी धारणाओं का विस्तार हुआ और उनमें परिपक्वता आई। विकास की यह प्रक्रिया लम्बी और धीमी थी।

दण्डीजी अपने शिष्यों को कहा करते थे — "आज मैं जिस अग्नि को धूमाकार में तुम्हारे भीतर प्रविष्ट करता हूँ, कल वह महाग्नि में परिवर्त्तित होकर भारत-भूमि के भ्रान्त मत और भ्रान्त विश्वास के जंजाल को भस्मीभूत कर डालेगी।" सभी शिष्यों में तो उनके संस्कारों एवं क्षमताओं के कारण इस अग्नि को धारण करने की शक्ति सम्भव न थी परन्तु दण्डीजी अपने भीतर की ज्वाला अपने अलौकिक योगी बाल ब्रह्मचारी शिष्य दयानन्द के भीतर प्रविष्ट करवाने में सक्षम सिद्ध हुए। इस ज्वाला ने दयानन्द रूपी स्वर्ण को तपाकर

कुन्दन बना दिया। दण्डीजी ने सच्चे शिव को पाने तथा मृत्यु का रहस्य जानने के अभिलाषी दयानन्द की दिशा बदल दी।[25] इसी कुटिया में दयानन्द को मिली शिक्षा ने रौमां रौलां को यह लिखने पर बाधित कर दिया कि "शंकराचार्य के बाद दयानन्द जैसा वेदविद् भारत भूमि में उत्पन्न नहीं हुआ।"[26] दण्डीजी से अध्ययन के पश्चात् उन्हें अपने पक्ष की सत्यता का विश्वास हो गया और अन्य विद्वानों को अपना मत समझाने की क्षमता भी प्राप्त हुई।

और यूँ ही एक ... एक करके दिन बीत गए। आज दयानन्द को श्रीचरणों में आए लगभग अढ़ाई वर्ष हो गए हैं। सम्वत् 1920 वि. का प्रथम चरण (अप्रैल 1863) शुरू है। गुरु-कृपा से आर्ष व्याकरण-ग्रन्थों का अध्ययन पूरा हो चुका है। विरक्त साधु ज्ञानामृत पीकर तृप्त हो गया है।[27] अब मथुरा छोड़ना चाहता है। अत: श्रीसेवा में उपस्थित होकर सिर झुका निवेदन किया – गुरुदेव! आपने महती अनुकम्पा कर मुझे विद्यादान दिया है। मेरा रोम-रोम ऋणी है। अब देशाटन की अनुमति प्रदान कीजिए। मैं एक संबलहीन संन्यासी हूँ। दक्षिणा देने का सामर्थ्य कहाँ से लाऊँ? मेरे पास भेंट करने को कुछ भी तो नहीं है। कुछ लौंग मांग कर लाया हूँ। इन्हें ही स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए। जिस विरक्त विरजानन्द ने जन्म-प्रदेश छोड़ने के बाद कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा, कभी परिवार का स्मरण नहीं किया, आज उसके भी नेत्र सजल हो गए हैं; उसका मानस-पुत्र जो विदा होने लगा है। बोले – जाओ वत्स! प्रभु तुम्हारी विद्या सफल करे परन्तु गुरु-दक्षिणा में लौंग नहीं, कुछ और चाहिए। कहो तो मांग लूँ।

गुरुदेव! मैं अकिंचन क्या भेंट करूँ? कुछ भी तो नहीं है मेरे पास।

सौम्य! मैं तुमसे धन नहीं मांगता। वही चाहता हूँ जो तुम दे सकते हो।

आदेश कीजिए, महाराज! आज्ञा पालन तो मेरा सौभाग्य होगा।

वत्स! तुम जानते हो कि आज अनार्षग्रन्थों की बाढ़ आई हुई है। अनेक मतमतान्तर और कुरीतियाँ प्रचलित हैं। वैदिक धर्म का लोप हो चुका है। आर्यावर्त की दशा बिगड़ गई है। मुझे आर्षग्रन्थों के प्रचार के लिए तुम्हारा जीवन चाहिए। यही गुरु-दक्षिणा है। दे सकते हो तो प्रतिज्ञा करो कि जब तक जीवित रहोगे, तब तक वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित करने और भारत से मतमतान्तरों एवं अनार्षग्रन्थों के अज्ञानान्धकार को नष्ट करने का प्रयत्न करोगे।

दयानन्द ने इस आदेश पर कुछ क्षण गम्भीरता से विचार किया।

आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, गुरुवर। जीवन भर इस आदेश का पालन करूँगा — फिर ऐसा कहकर दयानन्द ने पुनः सिर झुका दिया।[28]

गुरु ने अपने प्रिय शिष्य के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया — वत्स! ईश्वर तुम्हारी हिम्मत और प्रयत्न में बरकत दे। बस, इतना याद रखना कि मनुष्यकृत ग्रन्थों में परमेश्वर और ऋषियों दोनों की निन्दा भरी पड़ी है परन्तु आर्षग्रन्थों में यह दोष नहीं है। यही आर्ष और अनार्षग्रन्थों की परख है। बस, इस कसौटी को हाथ से कभी न छोड़ना।

और ... आर्षग्रन्थों का प्रचार करने तथा मतमतान्तरों के चक्रव्यूह को तोड़ने का संकल्प धारण कर दयानन्द ने विदा ली।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. ऋषि दयानन्द के लगभग सभी जीवनी-लेखक मथुरा-आगमन की यही तिथि स्वीकारते हैं परन्तु देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने सम्वत् 1916 वि. लिखा है। यह भी सभी मानते हैं कि स्वामी दयानन्द दण्डीजी की पाठशाला में पाणिनि-युग के प्रवर्त्तित होने के पश्चात् ही अध्ययनार्थ पधारे थे।

2. पण्डित लेखराम के अनुसार वे सर्वप्रथम कुब्जा के कुएँ पर ठहरे थे।

3. तब उनकी आयु एक सौ आठ वर्ष बताई जाती थी। पण्डित लेखराम के अनुसार दयानन्द ने नर्मदा तट-परिभ्रमण के समय विरजानन्द की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनी थी।

4. अनन्ताचार्य के साथ दण्डीजी का शास्त्रार्थ 1860 ई. में सितम्बर से नवम्बर (भाद्रपद कृष्ण पक्ष से कार्त्तिक शुक्ल पक्ष, सम्वत् 1917 वि.) तक चलता रहा था। रंगाचार्य उन्हीं के साथ काञ्ची (तमिलनाडु) से वृन्दावन आए थे।

5. उपदेश मञ्जरी, पुणे प्रवचन पन्द्रहवां; अपने अनुभव के आधार पर स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में लिखा है —" जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्यप्रति पढ़ें-पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़ के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध होकर पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं।"

6. नवम्बर 1860 से अक्तूबर 1861 तक आगरा, अवध तथा पंजाब के कुछ भाग इस अकाल से बुरी तरह प्रभावित रहे थे। बाद में 1865, 1866, 1868, 1869, 1873-1878 और 1883-1884 में भारत में कहीं-न-कहीं अकाल पड़ते रहे। इस कारण उस समय के सामान्य भारतीयों की हीन आर्थिक स्थिति का अनुमान सहज लगाया जा सकता है।

7. उपदेश मञ्जरी, पुणे प्रवचन पन्द्रहवां, तब अमरलाल (1840-1883 ई.) की आयु लगभग बीस वर्ष थी।

8. पण्डित लेखराम, मेहता राधाकिशन, इन्द्र विद्यावाचस्पति आदि ने गोवर्धन सर्राफ नाम लिखा है। प्रभुदयाल मीतल 'मथुरा में दंडी विरजानंद जी का विद्यालय और स्वामी दयानंद जी

की शिक्षा-दीक्षा' में लिखते हैं — ''हमारे अनुसन्धान से ज्ञात हुआ है कि गोवर्धन सर्राफ नामक कोई व्यक्ति नहीं थे। स्वामी जी को रोशनी के लिए चार आने मासिक देने वाले खेतामल नन्नूमल सर्राफ थे। उनकी सर्राफे की दुकान छत्ता बाजार में है, जिस पर उनके वंशज बैठते हैं (पृष्ठ 17 पाद टिप्पणी)।''

9. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित, (क) पृष्ठ 89, (ख) पृष्ठ 92, (ग) पृष्ठ 90 पाद टिप्पणी

10. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 186-187

11. पण्डित युगलकिशोर ने कहा था — ''एक दिन विद्यार्थी अवस्था में ही हमसे स्पष्ट कह दिया कि मूर्तिपूजा, कण्ठी, तिलक, छाप आदि सब निषिद्ध हैं।'' द्रष्टव्य : पण्डित लेखराम, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित (हिन्दी), पृष्ठ 58

12. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने दयानन्द सरस्वती द्वारा यमुना से जल लाने, पाठशाला में झाड़ू लगाने तथा दण्डीजी का यदा-कदा उन्हें डण्डा मारने आदि घटनाओं को निर्मूल बताया है (विरजानन्द-चरित पृष्ठ 126-27 पाद टिप्पणी; तुलना : महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित, पृष्ठ 90 पाद टिप्पणी)। पण्डित लेखराम ने सभी घटनाएँ युगलकिशोर, दामोदर चौबे, हरीकृष्ण, गंगादत्त (सभी स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी), नयनसुख जड़िया, रामचन्द्र (पुजारी लक्ष्मीनारायण मन्दिर) आदि से दिसम्बर 1888 में स्वयं पूछकर लिखी थीं। ऋषि दयानन्द के समकालीन और उनके शिष्य ठाकुर शेरसिंह वर्मा इन सभी घटनाओं को सत्य मानते हैं (द्रष्टव्य: धर्मदिवाकरोदय, पृष्ठ 29-31)। पण्डित मुकुन्ददेव ने स्पष्ट लिखा है कि दण्डी जी अपने शिष्यों से भिन्न-भिन्न कार्य लिया करते थे (द्रष्टव्य: दण्डी जी की जीवनी, पृष्ठ 10-12)।

13. प्रयोग-सिद्धि पाणिनि की शब्दानुशासन प्रक्रिया में प्रत्येक शब्द को पद बनाने के लिए निर्धारित विधि है, जो अनेक सम्बद्ध सूत्रों में विहित कार्यों के विनियोग से निष्पन्न की जाती है, यथा — सुध्युपास्यः पद के मूल शब्दों सुधी + उपास्यः में **इको यणचि** आदि सूत्रों में विहित कार्यों का विनियोग किया जाता है।

14. मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 114

15. दुर्गापाठ का प्रतिवाद करने के सम्बन्ध में द्रष्टव्य: किशोरीलाल, महर्षि दयानन्द सरस्वती जीवन-चरित्र, पृष्ठ 74, 75 तथा टिप्पणी संख्या 9 ग; मथुरा निवासी प्रभुदयाल मीतल डंडा मारने की घटना को सत्य मानते हैं (मथुरा में दंडी विरजानंद जी का विद्यालय और स्वामी दयानंद जी की शिक्षा-दीक्षा, पृष्ठ 10)।

16. स्वामी सत्यानन्द, श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 50

17. कालजिह्व जिसकी जिह्वा असत्य के खण्डन में काल समान हो। कुलक्कर — खूँटा जिसे कोई उखाड़ न सके।

18. सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, आर्य्याभिविनय तथा ऋग्वेद-भाष्य के प्रत्येक अष्टक के प्रायः प्रत्येक अध्याय के अन्त में ऐसा लिखा है। लक्ष्मण आर्योपदेशक ने सत्यार्थप्रकाश के प्रत्येक समुल्लास के अन्त में स्वामी दयानन्द द्वारा स्वयं को विरजानन्द का शिष्य होना लिखा है (द्रष्टव्य : ऋषि दयानन्द का जीवन-चरित, हिस्सा अव्वल, बाब दोम, पृष्ठ 66), जो सही नहीं है।

19. Arjun Singh Bawa, Dayanand Saraswati: Founder of the Arya Samaj,

p.19; स्वामी दयानन्द क शिष्य एवं समकालीन शेरसिंह वर्मा ने धर्मदिवाकरोदय के पृष्ठ 31 पर लिखा है : "अष्टाध्यायी महाभाष्य वेदान्तशास्त्र जब पढ़ि लीना।
और उपनिषद् बहुतक पढ़िकर ब्रह्मज्ञान दृढ़तर कीना॥"

20. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, दयानन्द-चरित, 1989 वि. संस्करण, पृष्ठ 136

21. Shri Ram Sharma, Pb . Univ. Res. Bull. (Arts), 3 October, 1972, p. 219, note 26; J.T.F. Jordens, Dayanand Sarasvati, p. 33; J. M. Sharma, Swami Dayanand, p.30; इस मान्यता का कारण कुछ लेखकों द्वारा सार्वभौम सभा-विवरणपत्र पर गूढ़ चिन्तन का सर्वथा अभाव है।

22. K.W. Jones, Arya Dharm, p. 32: H.P. Blavatsky, From the Caves and Jungles of Hindostan, p.20

23. द्रष्टव्य : वेदवाणी, फाल्गुन 2016 वि., पृष्ठ 12

24. दोनों की शब्दावली, लिंग व विभक्ति का प्रयोग कई स्थानों पर समान है। धर्म प्रचारार्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती भी राजाओं तथा राज सत्ता से सम्पर्क साधते हैं। संस्कृत पढ़ाने के लिए पाठशालाएँ खोलते हैं। सम्भवत: उन्होंने संगीत का ज्ञान भी अपने संगीत विशेषज्ञ दण्डी गुरु से ही प्राप्त किया था (द्रष्टव्य : पृष्ठ 138 पादटिप्पणी 10)।

25. पीटर ए., पार्दू तथा आर.एस. वोर्शमेनी आदि विदेशी विद्वानों ने भी ऋषि दयानन्द को 'भारत का लूथर' लिखा है। वोर्शमेनी ने गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार की 'वैदिक मैगज़ीन' के जनवरी 1923 के अंक में दोनों की सुन्दर तुलना की है।

26. Romain Rolland, The Life of Ramakrishna, p.144; मैडम ब्लैवेट्स्की का भी यह मत है (द्रष्टव्य: From the Caves and Jungles of Hindostan, p.23)।

27. मथुरा से आगरा पहुँचकर स्वामी दयानन्द ने पण्डित सुन्दरलाल को एक बार कहा था, "मैं ज्ञान के अनुसन्धान में बहुत स्थानों में, बहुत दिन तक फिरा हूँ , परन्तु मेरी तृप्ति अन्त में गुरु विरजानन्द के चरणों में बैठकर ही हुई है" (द्रष्टव्य: देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित, पृष्ठ 95)।

28. स्वामी दयानन्द ने गुरु कुटिया से विदाई का वृत्तान्त सुनाते हुए पण्डित सुन्दरलाल को बताया था, "... इस के अनुसार गुरुदेव से प्रतिज्ञाबद्ध होकर मैंने यह व्रत धारण किया है" (वही, पृष्ठ 95)। अत: श्रीराम शर्मा के कुछ कथन, जैसे — स्वामी दयानन्द ने विदा लेते समय दण्डीजी से सुधार सम्बन्धी ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की थी, उन्हें मथुरा रहते हुए वेदान्त-ग्रन्थों का परिचय तक न था, उनका दण्डीजी को गुरु मानने का केवल इतना अर्थ है कि वे उनसे तीन वर्ष पढ़े थे ... (Pb. Univ. Res. Bull. Arts, 3 October, 1972, pp.219- 220), पूर्णतया तथ्यों के विपरीत, हास्यास्पद तथा लेखक की अनभिज्ञता का परिचायक हैं। स्वामी दयानन्द यहाँ तक लिखते हैं — "फिर मथुरा से आगरा नगर में दो वर्ष तक स्थिति किई। जहाँ-जहाँ मुझको शंका रह जाती थी, उन स्वामी जी से उत्तर यथावत् पाया" (भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग 1, पृष्ठ 36)।

शिष्य मण्डल

गुरु विरजानन्द दण्डी अध्यापक के रूप में अद्वितीय थे। उनके पढ़ाने का ढंग बहुत सुन्दर था। वे स्वयं बोलकर नहीं पढ़ाते थे। विद्यार्थी अपना पाठ स्वयं बोलता था और दण्डी जी उसकी अशुद्धि को शुद्ध करते थे। उनके उच्चारण की शुद्धता तथा अभिव्यक्ति की शैली के कारण सुना हुआ पाठ सहज समझ आ जाता था। वे पहले सूत्र अथवा श्लोक कण्ठस्थ करवाते थे। फिर पदच्छेद करके एक-एक पद का अर्थ समझाया करते थे। वेदादि से आर्ष उदाहरण देकर व्याकरण पढ़ाते थे। वे किसी-किसी योग्य शिष्य को अष्टाध्यायी अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों क्रम से भी पढ़ा देते थे। विद्यार्थियों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर श्रेणीक्रम से नहीं पढ़ाते थे। जो विद्यार्थी जब आ गया और उसने जो पढ़ना चाहा, उसे उसी समय वही प्रसंग पढ़ा देते थे। वे नई से नई युक्ति द्वारा पाठ हृदयंगम करवाते थे।

दण्डीजी का अपने शिष्यों के साथ व्यवहार बहुत आत्मीयतापूर्ण तथा स्नेहभरा था। वे उनके सुख-दुःख एवं आवश्यकताओं का भी ध्यान रखते थे। यदि कोई विद्यार्थी अधिक बीमार हो जाता तो उसके घर मिलने चले जाते थे। यदि कोई विद्यार्थी पुस्तक में कोई प्रसंग खोज न पाता तो वे अनुमान से ठीक पृष्ठ खोल देते थे। समदृशी दण्डी जी छात्रों को अपने समान आसन पर बैठाते थे। अन्य पण्डितों की भाँति स्वयं छात्रों से ऊँचे आसन या कुर्सी पर बैठना उन्हें पसन्द नहीं था। ऊँची गद्दी को 'गधी' कहकर मजाक उड़ाते थे। प्रायः कहा करते थे —गधी पर बैठकर आर्षग्रन्थ पढ़ाना शोभा नहीं देता। गर्मी में कुश-आसन पर पद्मासन में विराजते थे।

दण्डीजी के शिष्यों की सूची बहुत लम्बी है।[1] पूरा व्यौरा ज्ञात नहीं है। कौन विद्यार्थी कब आया, क्या आयु थी, कितने दिन रहा, क्या पढ़ा? यह विवरण लिखने की तब प्रथा ही नहीं थी। मथुरा में वासुदेव, युगलकिशोर, जगन्नाथ चौबे, दामोदरदत्त सनाढ्य, वनमाली चौबे, चिरंजीलाल सनाढ्य, रंगदत्त चौबे, गंगादत्त चौबे, गोपीनाथ भट्ट, सोमनाथ, पुरुषोत्तमलाल गोस्वामी, रमणलाल गोस्वामी तथा केशवदेव (तीस वर्षीय) कौमुदी-अध्यापनकाल में दण्डीजी के शिष्य बन चुके थे। दयानन्द सरस्वती, उदयप्रकाश, गरुड़ध्वज, दीनबन्धु, हरिकृष्ण,

गोपाल ब्रह्मचारी, सोहनलाल (भागवतपाठी से भिन्न), नन्दन चौबे, श्यामलाल पाण्डे, नवनीत चतुर्वेदी,ग्वाल कवि, सत्तर वर्षीय केशवदेव, गयाप्रसाद, गणेशीलाल, चन्द्रनगर के टीकाराम और उनके भाई मिट्ठूलाल, आगरा के कालिदास व चेतूलाल तथा गिडोय ग्राम के ब्रजकिशोर शास्त्री अष्टाध्यायी पढ़ने के लिए उपस्थित हुए थे। पण्डित युगलकिशोर, वनमाली चौबे तथा पण्डित चिरंजीलाल ने भी उनसे अष्टाध्यायी पढ़ी थी।[2]

मथुरा आगमन के पहले वर्ष में ही वासुदेव गौड़ के सुपुत्र **युगलकिशोर सनाढ्य** श्रीचरणों में उपस्थित हो गए थे। वे अन्तिम समय तक उनके साथ रहे। दण्डीजी के बाद भी उसी गद्दी पर विराजमान होकर जीवन-पर्यन्त आर्षग्रन्थ पढ़ाते रहे। उन पर दण्डीजी की अत्यन्त कृपा थी। होली दरवाजा के निकट बाजार में देवकीनन्दन मन्दिर में उनके वंशजों का निवास रहा।

काशी में शिक्षा प्राप्त एवं व्याकरण विशारद **गंगादत्त** तथा **रंगदत्त चौबे** अध्यापन कार्य छोड़कर दण्डीजी से पढ़ने लगे थे। वे परस्पर मित्र एवं सहयोगी थे। चतुर्वेदी ब्राह्मण रंगदत्त चौबे छत्ता बाजार की गली सेठ भीखचन्द में रहते थे। गंगादत्त का ताजपुरा मोहल्ले में निवास था। स्वामी दयानन्द सरस्वती का अपने सहपाठी गंगादत्त के साथ विशेष स्नेह था। उन्होंने किसी से तीन सौ रुपये सहायता दिलवाकर उनका पक्का मकान बनवाया था। गंगादत्त को स्वामी दयानन्द ने फर्रुखाबाद पाठशाला में पढ़ाने के लिए बुलाया था परन्तु मूर्तिपूजा के विरोधी दयानन्द सरस्वती की नौकरी करने से लोक-चर्चा होगी — इस भय से वे नहीं गए थे। गंगादत्त ने रंगाचार्य के मत का खण्डन करने के लिए 'रङ्गोक्तिपरिभावन' लिखी थी। ऋषि दयानन्द के पश्चात् पण्डित गंगादत्त ने भी काशी के पण्डितों को हराया था। तब यह प्रसिद्ध हो गया था —'हे दिग्गज तार्किको! भाग चलो, भाग चलो। व्याकरण-केसरी गंगादत्त आ गया है।'

पलायध्वं पलायध्वं भो भो दिग्गजतार्किकाः।
गंगादत्तः समायातो वैयाकरणकेसरी।।

गतश्रम टीला मोहल्ला के निवासी **वनमाली चौबे** प्रसिद्ध कथा-वाचक थे। **चिरंजीलाल सनाढ्य** पर कालान्तर में ऋषि दयानन्द के विचारों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था। आर्यसमाज मथुरा का निजी भवन बनने से पूर्व उसकी कार्यवाही कुछ समय पण्डितजी के मकान पर छत्ता बाजार में होती थी।[3] **गोपीनाथ दाक्षिणात्य** तैलंग भट्ट थे। उनका निवास मथुरा के गोलपाड़ा मोहल्ले में था। व्याकरण तथा साहित्य में

उनकी अच्छी गति थी। वे वल्लभ सम्प्रदायी गोस्वामियों के सम्बन्धी थे, अतः अधिकतर गोकुल रहते थे।

वल्लभ सम्प्रदायी **रमणलाल गोस्वामी** छोटे मदनमोहन जी की गद्दी के अध्यक्ष थे। वे स्वामी दयानन्द के हितैषी थे। जब स्वामी दयानन्द सरस्वती रंगाचार्य से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करने के लिए 27 फरवरी, 1874 को मथुरा पधारे थे,[4] तो उनके सहपाठियों ने उनके प्रति विरोध का भाव प्रकट किया था। तब गोस्वामी रमणलाल और उनके पिता गोस्वामी पुरुषोत्तमलाल ने स्वामीजी को रेलवे पुल के निकट बंगाली घाट स्थित बलदेव बाग (बहूजी का बाग) में ठहराकर उनका आतिथ्य-सत्कार किया था। यह बाग भरतपुर के राजा बलदेवसिंह ने बनवाया था। वल्लभ सम्प्रदाय में **गोस्वामी पुरुषोत्तमलाल** की इतनी प्रतिष्ठा थी कि मुकुन्ददेव ने उन्हें 'अप्रतिमविमलविपुलप्रतिभवैश्वानरावतार श्री वल्लभ कुल कमल दिवाकर' लिखा है।[5क] **गोपाल ब्रह्मचारी** चौबच्चा मोहल्ला में स्थित प्राचीन शत्रुघ्न मन्दिर के महन्त थे। इस मन्दिर में रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार सेवा-पूजा होती थी। बाद में उन्होंने इस मन्दिर की सेवा-पूजा अपने मित्र युगलकिशोर को सौंप दी थी। **वासुदेव** चतुर्वेदियों के गुरु थे। उनका श्रीजी का मन्दिर गतश्रम टीला मोहल्ला में है। सौम्य स्वभाव और सात्विक वृत्ति के **नन्दन चौबे** गोपाल मन्दिर के अध्यक्ष थे। चौबच्चा मोहल्ला में स्थित इस मन्दिर में विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अनुसार गोपाल-पूजा होती थी। मथुरा के चौबों में नन्दन चौबे की गुरु समान प्रतिष्ठा थी।

दण्डी जी के शिष्य याज्ञिक **मदनदत्त गौड़** केवल फलाहार करते थे। वे अपने विद्यार्थियों को शुक्ल यजुर्वेद पढ़ाते थे। उन्होंने अपने पंच वर्षीय पौत्र **गरुड़ध्वज** को दण्डी जी से अष्टाध्यायी पढ़वानी चाही। दण्डी जी ने पहले उसका उपनयन संस्कार करवाने का निर्देश किया। तत्पश्चात् दण्डी जी ने उसे पढ़ाना शुरू किया। वह अल्पकाल में ही अष्टाध्यायी का अधिकारी विद्वान् बन गया था। शीतला घाटी पर रहने वाले **दीनबन्धु सनाढ्य** वैद्यक और भागवत पढ़ाते थे। वे भी कुछ समय दण्डीजी से व्याकरण पढ़े थे। वे सेठ गुरुसहायमल के कुल-वैद्य थे तथा वल्लभ सम्प्रदाय के दाऊ जी मदनमोहन मन्दिर के अध्यक्ष गोस्वामी गोपाललाल के अन्तरंग सेवकों में से थे। **नवनीत** ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि थे (द्रष्टव्यः परिशिष्ट 2)। वे पहले दण्डीजी से और बाद में गंगादत्त से पढ़ते रहे। **ग्वाल कवि** ने दण्डीजी से काव्यप्रकाश पढ़ा था। **मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या** भी कुछ समय दण्डीजी से पढ़े थे। वे मूलतः गुजराती थे।[7]

दाक्षिणात्य भट्ट **पण्डित रघुनाथ घुले** कौमुदी, मनोरमा और शेखर के अच्छे ज्ञाता थे। वे गली दशावतार में रहते थे और वहीं ये ग्रन्थ विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। निम्बार्क सम्प्रदायी विरक्त सत्यवादी वैष्णव साधु **शुकदेव** पुराण और इतिहास बांचते थे। बहुत अच्छे विद्वान् एवं कवि थे। **पण्ड्या मुकुन्दराम** याज्ञिक ऋग्वेदी होने पर भी चारों वेदों में रुचि रखते थे। मोहल्ला तुलसी चौतरां में **रमेश भट्ट** दाक्षिणात्य तथा होली दरवाजा गली सुनारान में पण्डित **झबोल गौड़** सिद्धान्तकौमुदी आदि पढ़ाते थे। मानक चौक में **शिवलाल गौड़** अपने भगवत्मन्दिर में भागवत बांचने के साथ-साथ पढ़ाया भी करते थे। **हरिकृष्ण कूर्माचलीय** लघुकौमुदी और वैद्यक ग्रन्थ पढ़ाते थे। कविता भी अच्छी करते थे। मण्डी रामदास के **बलदेव गौड़** दो-चार विद्यार्थियों को भागवत व ज्योतिष पढ़ाया करते थे। वैराग्यपुरा के **देवीदत्त गौड़** भागवत-पाठी थे। हनुमान टीले पर रहने वाले तीस वर्षीय **केशवदेव** तथा **भगवान चौबे** ज्योतिष पढ़ाते थे। वैद्य **रामरत्न वैष्णव** वैद्यक-ग्रन्थ पढ़ाया करते थे।

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी **पण्डित उदयप्रकाशदेव** मण्डी रामदास की गली गोसाईंयान में रहते थे। वे मथुरा में कौमुदी के मूर्धन्य अध्यापक माने जाते थे। उन्हें कौमुदी का खण्डन तथा तिरस्कार न भाया। वे इस विषय में दण्डीजी से शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हो गए। तय हुआ कि जो हारे, वह दूसरे का शिष्य बन जाए और उसके सिद्धान्त को माने। शास्त्रार्थ में उदयप्रकाश हार गए और उन्होंने 1863 ई. में दण्डीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। फिर उन्होंने दण्डीजी से अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पढ़े और जीवन भर ये ग्रन्थ पढ़ाए। स्वामी दयानन्द ने उदयप्रकाश को टोका घाट फर्रुखाबाद की अपनी पाठशाला में अध्यापक नियुक्त किया था परन्तु वे स्वामीजी के वैदिक सिद्धान्तों के विपरीत बोलते थे, अतः उन्हें सेवामुक्त करना पड़ा था।[6] यूँ दयानन्द सरस्वती ने उदयप्रकाश के ज्येष्ठ पुत्र नन्दकिशोरदेव के दूसरे विवाह में तीयल भेजी थी। सैद्धान्तिक मतभेद होने पर भी ऐसा व्यवहार स्वामी जी की साधुता का प्रमाण है।

सत्तर वर्षीय गौर वर्ण और हृष्ट-पुष्ट **केशवदेव गौड़** ज्योतिषाचार्य और तान्त्रिक पण्डित थे। धोती, बगलबन्दी, दुपट्टा और खूंटी वाली खड़ाऊँ पहनते थे। लम्बी चुटिया रखते थे। रामानुज सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण तीन तिलक लगाते थे। गऊघाट मोहल्ले में चन्द्रिका पढ़ाते थे। उदयप्रकाश ने उन्हें दण्डी जी से मिलवाया था। फिर उन्होंने स्वामीजी से अष्टाध्यायी पढ़ी।[8]

गतश्रमनारायण मन्दिर के पीछे चौबियों के गुरु **शीलचन्द्र चौबे** तन्त्रग्रन्थ पढ़ाते थे। ज्योतिर्विद् **गणेश गौड़** कौमुदी व न्याय के पण्डित थे। गोकुल के **रामचन्द्र सनाढ्य** तथा कासगंज के **गोपालदत्त** काफी वाचाल थे। वे बड़े से बड़े पण्डित के साथ शास्त्रार्थ के लिए उद्यत रहते थे। दयानन्द सरस्वती को भोजन देने वाले ज्योतिषी बाबा **अमरलाल औदीच्य**[9], **जगन्नाथ चौबे, दामोदरदत्त सनाढ्य, सोमनाथ, सोहनलाल** (भागवतपाठी से भिन्न), **श्यामलाल पाण्डे, गयाप्रसाद, गणेशीलाल, पुण्डरीक, पण्डा मुरमुरिया** नागर ब्राह्मण, **श्यामसुन्दर**, आदि भी दण्डीजी के शिष्य थे। इस प्रकार मथुरा में लगभग सभी सम्प्रदायों के धर्म-गुरुओं और तीर्थ-पुरोहितों की सन्तानें दण्डीजी की शिष्य थीं।

इन शिष्यों में से कुछ ऐसे भी हैं जिनके विषय में यह पूर्णतया निश्चित नहीं है कि वे कौमुदी-अध्यापनकाल में अध्ययनरत थे या बाद में। वे **स्वामी दयानन्द सरस्वती** के गुरु कुटिया में पदार्पण से पूर्व पढ़ते थे या उनके सहाध्यायी थे? सन्तलाल दाधिमथ ने दण्डीजी के शिष्यों में बनवारीलाल का नाम भी लिखा हैं।[10] बनवारीलाल सम्भवत: **वनमाली चौबे** का ही नाम था क्योंकि देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के बनवारीलाल चौबे के नाम 4 सितम्बर, 1913 को लिखे पत्र का उत्तर वनमाली शर्मा से प्राप्त हुआ था।[11]

दण्डीजी के मथुरावासी शिष्यों की चर्चा **नयनसुख जड़िया** के बिना अधूरी है। वे न तो दण्डीजी से विधिवत् पढ़े थे, न ही साक्षर थे; परन्तु गुरु-चरणों में प्रीति तथा सान्निध्य के कारण उन्हें अष्टाध्यायी के कुछ सूत्र, महाभाष्य की पंक्तियाँ, भागवत खण्डन के कई श्लोक तथा अर्थ सहित सन्ध्या-मन्त्र कण्ठस्थ थे। संस्कृतोच्चारण अनेक पण्डितों से अधिक शुद्ध था। उन्होंने मूर्तिपूजा छोड़ दी थी और सन्ध्या करते थे। जड़ियाजी की भाँति न जाने कितने प्राणियों ने दण्डीजी के कारण आत्मोन्नत्ति-लाभ प्राप्त किया था।

पण्डित मुकुन्ददेव के अनुसार मथुरा में पण्डित मनसाराम, गोस्वामी सोहनलाल, पण्डित बलदेव मिश्र, पण्डित लक्ष्मीनारायण तथा धारा स्वामी वासुदेव ही ऐसे पाँच पण्डित थे जो दण्डीजी के शिष्य नहीं थे। अन्य सभी पण्डित धीरे-धीरे दण्डीजी के शिष्य बन गए थे। गोस्वामी सोहनलाल तथा पण्डित बलदेव मिश्र क्रमश: भागवत और ज्योतिष के सिद्धान्त-ग्रन्थ पढ़ाते थे। नब्बे वर्षीय पण्डित मनसाराम विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के थे और कभी भी दण्डीजी के विरुद्ध नहीं बोलते थे। साठ वर्षीय लक्ष्मीनारायण गौड़ भागवत के विद्वान् थे परन्तु दण्डीजी

से द्वेष करते थे। पण्डित वासुदेव दण्डीजी के परम प्रतिद्वंद्वी थे।[5ख] वे सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थ पढ़ाते थे।

बदरिया के **अंगदराम शास्त्री** दण्डीजी के सर्वप्रथम ज्ञात छात्र हैं। उन्होंने दण्डी जी से सिद्धान्तकौमुदी पढ़ी थी। वे शालिग्राम की पूजा और भागवत की कथा किया करते थे। स्वामी दयानन्द का अप्रैल या मई 1868 में उनसे मूर्तिपूजा पर वार्तालाप हुआ था, तत्पश्चात् उन्होंने शालिग्राम को गंगा में चढ़ा दिया था। पीलीभीत के **अंगद शास्त्री** भी दण्डी जी के शिष्य थे। चन्द्रनगर (बदायूँ) निवासी कविरत्न अखिलानन्द शर्मा के पिता पण्डित **टीकाराम** ग्यारह वर्ष की आयु में स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य बने, उनसे यज्ञोपवीत लिया और तीन महीने पढ़े भी। फिर वे दण्डी विरजानन्द के पास रहकर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पढ़ते रहे।[12] इसी प्रकार स्वामी दयानन्द के सुझाव पर पण्डित टीकाराम के भाई **मिट्ठूलाल** तथा आगरा के **कालिदास** व **चेतूलाल** ने भी दण्डीजी से अष्टाध्यायी पढ़ी थी।

बदरिया के अंगदराम, सोरों के **बुद्धसेन** तथा अलवर के **राजा विनयसिंह** व **परमसुख** के अतिरिक्त हरिद्वार, कनखल, काशी, गया, कोलकाता, सोरों, अलवर आदि में प्रवास के समय दण्डीजी से जो शिष्य पढ़ते रहे, उनके नाम ज्ञात नहीं हैं। मथुरा के भी उनके सभी शिष्यों की जानकारी अब सम्भव नहीं है। निस्सन्देह उनके शिष्यों में दयानन्द सर्वाधिक प्रसिद्ध और उनकी विचारधारा के सही उत्तराधिकारी थे। दोनों के चिन्तन में गहन समानता है। दोनों ने संन्यास दीक्षा देने वाले गुरु के स्थान पर अपने-अपने विद्यागुरु का ही सर्वत्र उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि वे दोनों विद्याध्ययन को अधिक महत्त्व देते थे। दण्डी जी की विद्वत्ता से काशीस्थ विद्वान् इतने प्रभावित थे कि कई पण्डित काशी में विद्या-प्राप्ति के बाद दण्डीजी से पढ़ने के लिए मथुरा चले आते थे। **ब्रजकिशोर** ने सात साल काशी में विद्याध्ययन के पश्चात् मथुरा आकर दण्डीजी से अष्टाध्यायी पढ़ी थी। कुछ अन्य पण्डित भी मथुरा में थोड़ा समय दण्डीजी से पढ़कर स्वयं को उनका शिष्य घोषित कर गौरवान्वित समझते थे।

दण्डीजी के शिष्य भिन्न-भिन्न आयु के थे। सबसे छोटी आयु के शिष्य तो गरुड़ध्वज थे। प्रसादीलाल आचार्य के सुपुत्र **वासुदेव** भी अठारह वर्ष की आयु में पढ़ने लग गए थे। स्वामी दयानन्द पैंतीस-छत्तीस वर्ष की आयु में पढ़ने आए थे। कुछ आयु में उनसे भी बड़े थे। **केशवदेव तो सत्तर वर्ष के थे।** दण्डी

जी के शिष्य राजा भी थे, संन्यासी भी; रंक भी और वैभवशाली व्यक्ति भी। अष्टाध्यायी-अध्यापनकाल में दण्डीजी मन्दबुद्धि छात्र स्वीकार नहीं करते थे। वैसे दण्डी जी का विश्वास था कि नियमपूर्वक पढ़ता हुआ विद्यार्थी मूर्ख नहीं रह सकता।[13] उनका मानना था कि यदि वक्ता श्रोता को अपना अभिप्राय नहीं समझा सकता तो यह वक्ता की ही जड़ता है।[14] सभी छात्रों को अष्टाध्यायी पढ़ाने से पूर्व कौमुदी आदि पहला पढ़ा भूल जाने का निर्देश करते थे।

दण्डी जी अष्टाध्यायी मुख्यतया तीन प्रकार से पढ़ाते थे:

प्रथम : अक्षर मात्र ज्ञाता विद्यार्थी को सम्पूर्ण अष्टाध्यायी का शुद्ध पाठ पढ़ाकर कतिपय सन्धि के सूत्रों का ज्ञान करवाते थे। फिर अकारान्तादि क्रमपूर्वक षड्लिंग शब्द एवं सर्वादिकगण पढ़ाकर धातु पाठ, दस गण व दस प्रक्रियाओं को पढ़ाते थे। तत्पश्चात् कारक, समास, उपपद, विभक्ति,कृदन्त,तद्धित तथा स्वर सिखाते थे। वे इसे प्रथमावृत्ति (प्रथम बार पूर्ण करना) कहते थे। जहाँ-जहाँ जिस किसी भाष्य, वार्त्तिक,परिभाषा आदि की आवश्यकता होती, उसको भी प्रथमावृत्ति में महाभाष्य से लिखवाते थे।

द्वितीय: कौमुद्यादि पढ़े हुए विद्यार्थी को प्रथमावृत्ति न पढ़ाकर केवल द्वितीया-वृत्ति पढ़ाते थे। इसमें प्रथमाध्याय के प्रथम सूत्र से प्रारम्भ कर अष्टमाध्याय के अन्तिम सूत्र पर्यन्त यथाक्रम सूत्र, सूत्रपद, अनुवाद्य, विधेय, समास, विग्रह, विभक्ति, क्रिया, अनुवृत्ति, अर्थवृत्ति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार, यथासम्भव वार्त्तिक, शङ्का समाधान, परिभाषा आदि का अध्ययन करवाते थे।

तृतीय: तृतीयावृत्ति में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी महाभाष्य के साथ अथवा केवल महाभाष्य मात्र पढ़ाते थे।

दण्डी जी उच्चारण शुद्धि पर बहुत बल देते थे। अशुद्ध उच्चारण उन्हें असह्य था। एक बार दण्डी जी ने मुकुन्ददेव से पूछा, आजकल अपने पिता से क्या पढ़ते हो? जी, अष्टाध्यायी — मुकुन्ददेव ने कहा। अच्छा, सुनाओ — दण्डी जी बोले। मुकुन्ददेव ने **वृद्धिरादैच्** सुनाया। वकार का उच्चारण ओष्ठ से करना चाहिये था परन्तु दन्त व ओष्ठ से कर दिया। दण्डी जी ने शुद्ध उच्चारण करके बताया। मुकुन्ददेव सुधार न कर सके। कई बार प्रयास करवाया गया पर व्यर्थ। जब बात न बनी तो दण्डी जी को बहुत गुस्सा आया। उनका स्वर तथा शरीर का वर्ण विकृत हो गया और वे उसे पीटने को उद्यत हो गए।

दण्डी जी किसी से द्वेष नहीं करते थे परन्तु भागवतपुराण के निर्माता

बोपदेव तथा कौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित के विरुद्ध थे। वे प्रत्येक नए विद्यार्थी को भागवत तथा कौमुदी न पढ़ने की शपथ दिलाया करते थे। यद्यपि राजनीतिक वातावरण, मूर्तिपूजा, सामाजिक कुरीतियों आदि के विषय में उनके निश्चित मत थे तो भी उनसे व्याकरण पढ़ने के लिए उनके इन विचारों की स्वीकार्यता अनिवार्य नहीं थी परन्तु आर्षग्रन्थों के विषय में वे कोई समझौता करने को तैयार न थे। पवित्रतावादी दण्डीजी केवल पढ़ाते ही नहीं थे, अपितु शिष्यों के आचरण पर भी ध्यान देते थे ताकि उनका कोई भी छात्र निन्दा का पात्र न हो। वे शिष्यों को प्राय: विशेष शिक्षाप्रद उपदेश देते थे।

पढ़ाने के अतिरिक्त दण्डी जी किसी उच्च राज्याधिकारी अथवा राजा को सार्वभौम सभा, आर्षग्रन्थों तथा विभिन्न मतमतान्तरों के सम्बन्ध में पत्र लिखते रहते थे। वे भाषा स्वयं बनाते थे। उसे किसी विद्यार्थी से लिखवाकर सुनते और अशुद्धियाँ दूर करते थे। फिर कोई विद्यार्थी उसकी रजिस्ट्री करवा देता था। विद्यार्थियों से उपयोग की वस्तुएँ भी क्रय करवाते थे। विद्यार्थियों का भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए अलग-अलग समय नियत होता था।

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने दण्डीजी की पाठशाला की तुलना बोटेम्बर्ग के विश्वविद्यालय से की है।[15] मार्टिन लूथर ने वहाँ अध्यापन करते समय ईसाई जगत् को हिला दिया था। लूथर की विद्यमानता अनेक लोगों को बोटेम्बर्ग खींच लाई थी। दण्डीजी के कारण यही स्थिति मथुरा की इस कुटिया की थी।

आरम्भ में दण्डीजी का पाठशाला खोलने का कुछ भी उद्देश्य रहा हो परन्तु कालान्तर में यह अध्यापन क्रान्ति का सशक्त माध्यम सिद्ध हुआ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. प्रभुदयाल मीतल ने 'मथुरा में दंडी विरजानंद जी का विद्यालय और स्वामी दयानंद जी की शिक्षा-दीक्षा' के पृष्ठ 22-25 पर तथा पण्डित मुकुन्ददेव ने 'दण्डी जी की जीवनी' में दण्डीजी के कुछ शिष्यों की चर्चा की है।

2. कौमुदी तथा अष्टाध्यायी-अध्यापनकाल की ये नामावलियाँ विभिन्न घटनाओं में चर्चित व्यक्तियों के आधार पर लेखक ने तैयार की हैं।

3. फाल्गुन बदी 5, सम्वत् 1938 (20 जनवरी, 1881) गुरुवार को मथुरा में विधिवत् आर्यसमाज स्थापित हुआ था। आरम्भिक कार्यकर्ताओं में दयाशंकर दवे, रामनारायण भटनागर, नानकचन्द तथा केशवदेव चतुर्वेदी प्रमुख थे। इस तिलक द्वार आर्यसमाज के भवन का निर्माण मार्घशीर्ष शुदि बसन्त पंचमी सम्वत् 1945 वि. (7 दिसम्बर, 1888) शुक्रवार को हुआ था।

4. पहले तो रंगाचार्य ने कहा कि वे ब्रह्मोत्सव के पश्चात् शास्त्रार्थ करेंगे परन्तु किया नहीं।

उन्होंने किसी से कहा था कि शास्त्रार्थ का क्या लाभ ? यदि दयानन्द हार गया तो उस साधु का क्या बिगड़ेगा ? मैं हार गया तो सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जाएगी।

5. मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, (क) पृष्ठ 68, (ख) पृष्ठ 1-3

6. फर्रुखाबाद पाठशाला का सारा व्यय सेठ निर्भयराम देते थे। पण्डित उदयप्रकाश को बीस रुपये मासिक वेतन तथा भोजन मिलता था। वे कई वर्ष अध्यापक रहे। वे प्रायः विद्यार्थियों को कहा करते थे कि इस मुड़िया बाबा (दयानन्द) के सिद्धान्त पर चलोगे तो ब्राह्मणवृत्ति की आजीविका बिल्कुल नष्ट हो जाएगी। यह तो सोटा, लँगोटा और तूंबा वाला है। इसका क्या बिगड़ेगा ? ज्वालादत्त और भीमसेन के ऐसा बताने पर स्वामी दयानन्द सरस्वती बोले कि सोटा लँगोटा वाला बोलता है, सो तो मेरा सहपाठी है परन्तु वेदोक्त धर्म के विरुद्ध बोलता है, सो ठीक नहीं। तब उदयप्रकाश को विदा कर दिया गया। एक महीना पण्डित भीमसेन अध्यापक रहे। फिर कई वर्ष युगलकिशोर पढ़ाते रहे। बाद में यही पाठशाला स्थानान्तरित होकर गुरुकुल वृन्दावन कहलाई। उदयप्रकाश ने ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य के विरोध में स्वर-संचारिणी व्याख्या लिखी थी जो लीथो प्रेस में छपी थी। इसकी प्रति रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली (सोनीपत, हरियाणा) के पुस्तकालय में विद्यमान है।

7. मथुरा निवासी मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या (1850-1912 ई.) परोपकारिणी सभा के प्रथम उपमन्त्री थे। स्वामी दयानन्द के विश्वास-पात्र थे। वे उदयपुर तथा प्रतापगढ़ राज्य की सेवा में रहे तथा उनके पिता सेठ लक्ष्मीचन्द्र के मुनीम थे

8. केशवदेव के वशंज डॉ. त्रिलोकीनाथ व्रजबाल (मथुरा) द्वारा लेखक को 2 जून, 2002 को लिखे पत्र से; विभिन्न पण्डितों की आयु गणना 1868 ई. से की गई लगती है (द्रष्टव्यः मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, पृष्ठ 7 सम्पादकीय टिप्पणी 8)।

9. पण्डित मुकुन्ददेव ने दयानन्द सरस्वती को भोजन देने वाले का नाम अमरनाथ औदीच्य लिखा है। इसीलिए दण्डी जी के शिष्यों की चर्चा में भी अमरनाथ औदीच्य लिख दिया। भीमसेन शास्त्री अमरलाल तथा अमरनाथ को दो भिन्न व्यक्ति समझने की भूल कर गए। उन्होंने भोजन-प्रदाता का नाम तो अमरलाल ही लिखा परन्तु एक शिष्य का नाम मुकुन्ददेव का अनुकरण करते हुए अमरनाथ औदीच्य लिख दिया। ये दोनों एक ही व्यक्ति थे। तब नाम लेते समय इतनी स्वतन्त्रता प्रायः बरत ली जाती थी।

10. सन्तलाल दाधिमथ, श्रीमद्विरजानन्द-दर्शन, पृष्ठ 4

11. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 215-17; घासीराम का मत है कि देवेन्द्रनाथ ने भूल से वनमाली को बनवारीलाल लिख दिया (पृष्ठ 218 पाद टिप्पणी)।

12. अखिलानन्द शर्मा, दयानन्द दिग्विजयम् , पृष्ठ 29

13. **पठतो नास्ति मूर्खत्वम्।**

14. **वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते।**

15. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 121-122 पाद टिप्पणी

रचनाएँ

विद्याविलासी दण्डीजी जीवन पर्यन्त अध्ययन-अध्यापन के प्रति समर्पित रहे। उन्होंने यदा-कदा कुछ श्लोक रचे, उनमें से अधिकांश समय के साथ अप्राप्य हो गए हैं। व्याकरण उनका प्रिय विषय था। शब्दबोध से लेकर सार्वभौम-सभा-विवरणपत्र एवं जयपुर नरेश सवाई रामसिंह के नाम लिखे पत्र तक की लेखन-यात्रा उनके चिन्तन के क्रमिक विकास की साक्षी है।

शब्दबोध दण्डीजी की प्रथम रचना है।[1] यह केवल राजा विनयसिंह को पढ़ाने के लिए अलवर प्रवास के समय 1832 ई. के उत्तरार्द्ध में लिखी गई थी। इसका उद्देश्य "थोड़े प्रयास से बहुत शब्दों का बोध करवाना" था, ऐसा दण्डीजी ने इस पुस्तक के मंगलाचरण में कहा है।[2] वे आगे कहते हैं —

"जो अनुभूति के साथ संकेत किया गया है और जो भगवान् पाणिनि का कथन है, शब्द प्रयोगों की सिद्धि करते समय इन दोनों का सरल अर्थ इस (शब्दबोध) में स्पष्ट किया गया है।।४।।"

"जो शब्दों की व्युत्पत्ति की इच्छा रखते हैं, विस्तार में नहीं जाना चाहते, वे इसी ग्रन्थ को ही पढ़ें और सज्जन इस ग्रन्थ का अनुमोदन करें।।६।।"[2]

शब्दबोध थोड़े शब्दों में सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या का प्रयास है। इसके सूत्रों तथा उदाहरणों में कौमुदी से विशेष भिन्नता नहीं है। संज्ञा-प्रकरण, सुबन्त, तिडन्त और कृदन्त के अनन्तर कारक, समास, तद्धित तथा स्त्री-प्रत्यय कौमुदी के क्रमानुसार हैं। अतः स्पष्ट है कि अभी दण्डीजी किसी भी व्याकरण-ग्रन्थ के विरुद्ध नहीं थे परन्तु वे पाणिनि एवं अपने अनुभव के आधार पर पुस्तकें लिखकर उन्हें पढ़ाने के पक्षधर थे। इससे लगता है कि तब से पूर्व दण्डी जी ने अष्टाध्यायी का कुछ अध्ययन कर लिया था। मंगलाचरण में पाणिनि को 'भगवान्' कहना उनके प्रति दण्डी जी की श्रद्धा का द्योतक है।

सारी पुस्तक एक ही व्यक्ति की साफ-सुथरी लिखाई में है। बोलकर लिखवाई होने के कारण पुस्तक में कहीं-कहीं अशुद्धियाँ होना स्वाभाविक है जो किसी अन्य व्यक्ति के हाथ से संशोधित हैं। इस हस्तलेख में अधिकांशतः 'व' लिखा गया है तथा अवग्रह (ऽ) का प्रयोग अपेक्षाकृत कम है। समूचा (पूर्व तथा उत्तर) कृदन्त प्रकरण एक साथ दिया गया है। ग्रन्थारम्भ 'ओं श्री

रामचन्द्राय नमः' से किया है। **ओं** भी लिखा है और **श्रीरामचन्द्राय नमः** भी। कौमुदी-अध्यापनकाल की यह आरम्भिक रचना समय के साथ दण्डीजी के मापदण्ड पर महत्त्वहीन हो गई।

वाक्यमीमांसा की रचना आर्षयुग प्रवृत्त होने पर सम्वत् 1916 (तदनुसार 1859 ई.) में नागेश भट्ट विरचित शब्देन्दुशेखर का खण्डन करने के लिए की गई थी। इसका रचनाकाल निश्चित है क्योंकि इस पर 'सम्वत् १९१६' लिखा है। तब दण्डीजी ने कौमुदी-परम्परा के विरुद्ध संघर्ष आरम्भ कर दिया था। वाक्यमीमांसा के मंगलाचरण में उनके भाव इस प्रकार वर्णित हैं —

> 'हे पाणिनि! हे कात्यायन! हे पतञ्जलि! तुम सबको मेरा बार-बार प्रणाम है। कृपा करके मुझे वह (ज्ञान) सिद्ध कराओ, जिससे मैं धूर्त वैयाकरणों का निराकरण कर सकूँ। इनके ग्रन्थ अशुद्ध हैं। इन्हें ये बुद्धिहीन वैयाकरण शुद्ध मानकर मुझे कष्ट पहुँचा रहे हैं। मेरे द्वारा यत्नपूर्वक भाष्य-व्याख्या किए जाने पर उसे पूर्णतया पर्यालोचन कर ही तथा मेरे वाक्यों पर विचार कर लिए जाने पर ही धूर्तों का निराकरण सम्भव है। इसलिए वाक्यमीमांसा नामक ग्रन्थ प्रवर्तित होगा।''[3]

शब्दबोध तथा वाक्यमीमांसा में दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने स्वयं को गौरीशंकर का शिष्य घोषित किया है। वर्तमान में वाक्यमीमांसा अनुपलब्ध है।

पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश भी इसी काल में रचित स्वामी विरजानन्द की कृति बताई जाती है। वाक्यमीमांसा के बाद के इस प्रयास का अभिप्राय अष्टाध्यायी पर बल देना ठहरता है। पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश के हस्तलेख की जो प्रतिलिपि रेवली (सोनीपत) में रखी हुई है, वह 5 × 11 इंच के लगभग 650 पृष्ठों में पूर्ण हुई है। यह पुस्तक आदि से अन्त तक पूरा है।

पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश का आरम्भ **ओ३म्** तथा **अथ शब्दानुशासनम्** से हुआ है। इस के प्रथम दो अध्यायों के प्रत्येक पाद, तीसरे अध्याय के दूसरे तथा तीसरे पाद और छठे अध्याय के चौथे पाद के अन्त में इसे विरजानन्द सरस्वती द्वारा रचित बताया गया है --

इति श्रीमद्विरजानन्दसरस्वतीप्रणीते पाणिनीयसूत्रार्थप्रकाशे ...।

यहाँ स्वामी विरजानन्द को पण्डित गौरीशंकर अथवा कौमुदीकालीन किसी अन्य गुरु का शिष्य नहीं कहा गया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पाणिनीय-

सूत्रार्थप्रकाश का कुछ भाग स्वामी विरजानन्द रचित है।

तीसरे अध्याय के पहले पाद के सूत्र पचासी में स्वामी विरजानन्द का पुनः उल्लेख है —

छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति इति भाष्यकारवचनाल्लोकेऽपीति विरजानन्दपादाः।।
अर्थात् 'सूत्रों का स्वभाव छन्दों के समान होता है, ऐसा भाष्यकार का मत है। भाष्यकार के वचन से लोक में भी सूत्रों का ऐसा ही स्वभाव होता है, ऐसा विरजानन्द का मत है।' इससे लगता है कि यह दण्डी जी का लेख नहीं है।

कहीं-कहीं लेखक की अकुशलता का परिचय भी मिलता है, यथा —

दीक्षितोदाहरणं त्वत्र निन्द्यम्। ... तदनुगं वामनं धिक्। (2.3.62)

अर्थात् 'यहाँ तो दीक्षित का उदाहरण निन्दनीय है। ... उसके अनुयायी वामन को भी धिक्कार।' यहाँ वामन को दीक्षित का अनुयायी कहा है, जबकि वामन भट्टोजि दीक्षित से लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व हुए हैं। भट्टोजि ने अपने ग्रन्थों में वामन को बहुत उद्धृत किया है। अतः इस भाग की रचना भी दण्डीजी की नहीं हो सकती।

यदि पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने स्वामी दयानन्द के मथुरा में गुरु कुटिया में प्रवेश से पूर्व लिखा था तो इसके पहले अध्याय के चौथे पाद के सूत्र छियासी में निम्नलिखित पाठ नहीं होना चाहिए —

अनु श्रीमद्दयानन्दं परोपकारिणः। दयानन्दाद्धीना इति भावः।

अर्थात् 'सभी परोपकारी दयानन्द से नीचे हैं; दयानन्द से कम हैं।'

इन्हीं कारणों से पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु और पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक इसे दण्डीजी की रचना ही नहीं मानते[4] परन्तु देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का मत है कि विरजानन्द सरस्वती ने पाणिनि के प्रायः आधे भाग का एक भाष्य प्रणयन किया था।[5] ऐसा ही हरविलास शारदा ने लिखा है। फिर यह ग्रन्थ पूरा किसने किया?

वस्तुतः गोपीनाथ ने दण्डी जी की दोनों पुस्तकों (हस्तलेखों) को यमुना में न बहाकर अपने घर रख लिया था। कुछ समय पश्चात् ये पुस्तकें युगलकिशोर के पास चली गईं। बाद में उनसे ये पुस्तकें उनके शिष्य अखिलानन्द ने प्राप्त कर लीं।[6] तब कुछ भाग पण्डित अखिलानन्द ने लिख दिया। इसकी पुष्टि तीसरे अध्याय के पहले पाद की अन्तिम पंक्तियों से होती है —

इति श्रीमद्विरजानन्दसरस्वतीलब्धविद्ययुगलकिशोरशर्मणां शिष्येण

वर्तमान-कविरत्नाखिलानन्दशर्मणप्रणीते संस्कृतविद्यानन्दवर्धिन्या समेते पाणिनीयसूत्रार्थप्रकाशे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तिमगमत्।

अर्थात् 'श्रीमान् विरजानन्द सरस्वती से ज्ञान प्राप्त करने वाले युगलकिशोर शर्मा के शिष्य वर्तमान कविरत्न अखिलानन्द शर्मा द्वारा रचित संस्कृतविद्यानन्दवर्धिनी नामक टीका से युक्त पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश के तृतीयाध्याय के प्रथम पाद की समाप्ति हुई।'

पहले अध्याय के चौथे पाद के सूत्र छियासी के पश्चात् सूत्र नब्बे में भी 'महर्षि' नाम से दयानन्द का संकेत मिलता है —

नगरंनगरं प्रतिपर्यनु वा चचार महर्षिः वेदप्रचाराय समाजस्थापनाय च।

अर्थात् 'महर्षि ने वेदप्रचार तथा (आर्य)समाज की स्थापना के लिए नगर-नगर भ्रमण किया।'

दयानन्द सरस्वती सम्बन्धी दोनों उल्लेख इस भाग को अखिलानन्द शर्मा कविरत्न रचित सिद्ध करते हैं। उन्होंने न केवल 'दयानन्द दिग्विजय' और 'दयानन्दलहरी' जैसे ग्रन्थ लिखे थे, अपितु उन द्वारा मार्च 1909 में रचित 'छन्दः सूत्रम् (छन्दः शास्त्र का संस्कृतभाष्य)' ऋषि दयानन्द के प्रति श्रद्धापूर्ण वाक्यों और श्लोकों से भरा पड़ा है। अतः लगता है कि पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश को अखिलानन्द शर्मा ने पूरा करके दण्डी विरजानन्द स्वामी के नाम से प्रचारित करने का प्रयास किया था।

आठवें अध्याय के तीसरे पाद के अन्त में लिखा है —

इत्यष्कशर्मकृते अष्टाध्याय्यर्थप्रकाशे तृतीयश्चरणः प्रस्फूर्तिमगमत्।

अर्थात् 'इस प्रकार अष्क शर्मा द्वारा कृत अष्टाध्यायी-अर्थप्रकाश का तृतीय पाद समाप्त हुआ।' इन अष्क शर्मा के विषय में कुछ भी जानकारी उपलब्ध नहीं है। अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण पुस्तक किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है। इसमें समय-समय पर फेरबदल होता रहा है। किस-किस ने समय के साथ क्या-क्या लिखा — अब यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश का प्रारम्भिक कुछ भाग दण्डीजी रचित एवं निर्देशित है। इसमें अष्टाध्यायी की अनुपम व्याख्या प्रस्तुत की गई है। दण्डीजी ने पूर्व परम्परा-प्राप्त उदाहरणों का त्याग करके वेद, वैदिक धर्म एवं संस्कृति तथा आर्य परम्परा से सम्बद्ध उदाहरणों का सुविचारित चयन किया है, यथा — प्रथम अध्याय के सूत्रों की व्याख्या में दिए गए उदाहरणों के माध्यम से वेद की

उपयोगिता, महत्त्व एवं अपौरुषेयता, वेदों के माध्यम से धर्म की स्थापना तथा अधर्म का उत्क्षेपण, आचार्य का वेद पढ़ाना, ब्रह्मचारियों का वेद पढ़ना तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याग्रहण करना, गुरुकुल विषयक चर्चा, कर्म करने में जीव की स्वतन्त्रता, कर्मबन्धन पर्यन्त मोक्ष की अवधारणा की स्थापना, नीच, नास्तिक, पापी तथा व्यभिचारी की निन्दा, धर्मान्दोलन की प्रेरणा, भारत में परम्परा से एक ही धर्म की सत्ता का उल्लेख, धर्म से सुख तथा अधर्म से दुःख की उत्पत्ति का कथन तथा सामान्य जनता को पापाचार से रोकना, यज्ञ विषयक आग्रह आदि सैद्धान्तिक सदाचार एवं आर्ष मान्यताओं की स्थापना एवं पुष्टि की गई है।[8] ऐसे उदाहरण दण्डीजी की मान्यताओं के अनुरूप हैं। व्याख्या के बीच-बीच में दण्डीजी ने अनेक स्थलों पर भट्टोजि दीक्षित, नागेश तथा जयादित्य की अपव्याख्या के लिए भर्त्सना भी की है।[9] अनेक स्थानों पर पाणिनि की प्रशंसा की गई है।[10] इससे उनकी अध्यापन शैली तथा चिन्तन एवं दर्शन का अनुमान सहज सम्भव है। यही चिन्तन उनसे स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त हुआ था, जिसका उन्होंने कालान्तर में विस्तार किया।

इसके पश्चात् दण्डीजी ने न स्वयं कोई पुस्तक लिखी, न अपने शिष्यों को पुस्तक लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि मनुष्यकृत ग्रन्थों का कोई औचित्य नहीं।

सार्वभौम-सभा-विवरणपत्र[11] दण्डीजी द्वारा लिखा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। आर्षयुग प्रवृत्त होने के पश्चात् दण्डीजी के विचारों को समझने के लिए यह एक मौलिक परिपत्र है। राजा रामसिंह को मिलने के पश्चात् आगरा से वापस आकर दण्डी जी ने यह पत्र लिखा था (द्रष्टव्य श्लोक 2, पृष्ठ 150)। इस परिपत्र एवं राजा रामसिंह को लिखे पत्र के अतिरिक्त बाकी सभी जानकारी उनके शिष्यों एवं अन्य लोगों द्वारा दी गई है।

सार्वभौम सभा नाम से किसी संगठन विशेष के गठन का दण्डीजी का अभिप्राय नहीं था, अन्यथा इस परिपत्र में उस संगठन तथा उसके अध्यक्षादि का उल्लेख होता। यह तो धर्म की मूल पुस्तक की मर्यादा स्थापित करने के विशेष उद्देश्य से एक गोष्ठी के आयोजन का प्रस्ताव था। दण्डीजी को स्वपक्ष की सत्यता पर इतना अधिक विश्वास था कि वे सार्वभौम सभा में सभी विद्वानों को अपनी बात समझाने के लिए केवल घण्टा भर का समय पर्याप्त समझते थे। दण्डीजी के अस्सी साल की आयु तक के ग्रन्थ विषयक अनुभव,

अध्ययन, चिन्तन एवं मनन का सार यह सार्वभौम-सभा-विवरणपत्र है। संक्षेप में ये उनकी मान्यताएँ हैं और वे भी उन्हीं के शब्दों में। इस विवरणपत्र के कुछ प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं —

• लोकव्यवहार के लिए देश-भाषा सीखना जरूरी है। अध्यापक को मनुष्यभाषा की पुस्तक बनाने का अधिकार है। वह चाहे तो अपनी बनाई पुस्तक पढ़ाए अथवा किसी अन्य की बनाई।

• शब्दशास्त्र (व्याकरण) के नियम लगाकर मनुष्यभाषा की देवभाषा बन जाती है। देवभाषा के नियम देव और ऋषि ही जानते हैं, साधारण मनुष्य नहीं। अत: साधारण मनुष्यों को ये पुस्तकें बनाने का अधिकार नहीं है।

• तर्क, श्रवण तथा मनन से बढ़कर शब्दशास्त्र है। वेदादि शब्दशास्त्र के उदाहरण हैं।

• पुस्तक वही है जिस का लेखक द्रष्टा हो। उसी पुरुष का प्रमाण है। शास्त्र वह पुस्तक है जिसके पढ़ने के पश्चात् उस विद्या की प्राप्ति के लिए अन्य पुस्तक की आकांक्षा न रहे।

• ऋषि शब्द-रूप में अपने बनाए पुस्तक में विद्यमान रहता है। वह प्रथम गुरु है और सद्गुरु है। अत: सद्गुरु पुस्तकस्थ है। **यहाँ दण्डीजी ने पुस्तकस्थ ऋषि को गुरु माना है, न कि पुस्तक को।** बाह्य गुरु दूसरे दर्जे पर है। उसे सद्गुरु की पुस्तक की मौखिक व्याख्या तक सीमित रहना चाहिए। जो पारदृश्वा है, वही गुरु हो सकता है।

• पुस्तकस्थ (पुस्तक सम्बन्धी) वृत्तान्त को पौस्तक कहते हैं। उसे स्वयं समझ ले अथवा किसी गुरु से समझ ले। यह मौखिक है। लिखने की आवश्यकता नहीं है। पुस्तक लिखा जाता है, पौस्तक नहीं।

• जो जीवित विद्वान् पुस्तक का वृत्तान्त उसी पुस्तक में समझा देवे, वह पुस्तकस्थ आचार्य के साथ एकीभूत है। उसका वचन मार्ग है, वही महाजन है।

• जिस ऋषि में जिसकी श्रद्धा हो, वह उसका महाजन है।

• ऋषि के शब्दों को लेकर ब्राह्मण आप्त अर्थात् शब्दप्रमाण होता है।

• आर्ष पुस्तक का पुस्तकान्तर नहीं बनता। आर्षग्रन्थ का सहारा लेकर उसके स्थान पर अन्य पुस्तक बनाकर प्रचारित करना पुस्तकोत्थ[12] है। पुस्तकोत्थ में धर्म का नाश है क्योंकि इससे मूल पुस्तक, उसके रचयिता तथा उसके समझने वाले तीनों का प्रामाण्य नष्ट हो जाता है। इस तरह देवभाषा के पढ़ाने

वाले गुरु-रहित, अशिष्ट और नालायक हो गए।

- साधारण मनुष्य द्वारा आर्षग्रन्थों की टीका या भाष्य लिखना उचित नहीं है। मूर्ख लोगों ने एक पुस्तक की अनेक टीकाएँ लिख दीं, जैसे बोपदेव ने व्यास ऋषि के नाम पर भागवत पुराण बना दिया।[13] भागवत पुराण महाभारत से विरुद्ध तथा व्याकरण में अशुद्ध है। ऐसे पुस्तक का शब्द ऋषि नहीं होता। अत: प्रमाण नहीं होता।

- किसी ऋषि की पुस्तक पर वृत्ति[14] बनाकर अपनी पुस्तक लिखने वाला पामर और दम्भी है। चाण्डाल ऐसी चेष्ठा करता है। जब शब्द-शास्त्र का पढ़ाने वाला नहीं रहता तो मिथ्या पण्डित सनातन पुस्तक की दुर्दशा करते हैं। **एक पुस्तक के अनेक पुस्तक बनाने वालों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए अनेक सम्प्रदाय चलाए हैं, जो सही मार्ग नहीं है।**

- सूत्रों की वृत्ति सूत्र पुस्तक में ही बन जाती है। अष्टाध्यायी का दूसरा पुस्तक नहीं बनता। वृत्ति बनाकर लेख करने का शास्त्र में निषेध है। दूसरा पुस्तक बनाना प्रक्षेप है। वृत्ति ज्यों की त्यों दिखाई पड़ती है। यदि शास्त्र समझ में न आए, तो गुरु से पूछ ले; लिखने की आवश्यकता नहीं है।

- बहुत सूत्राध्ययन पुण्य है।

- **अष्टाध्यायी, वार्त्तिकसूत्र तथा महाभाष्य भूलोक व्याकरण है।**

- पुस्तक का मूल सनातन तथा अपरिवर्त्तित रूप बना रहना पुस्तक स्थिति है। पुस्तक की मर्यादा बनी रहने से धर्म की मर्यादा बनी रहती है। महाराज युधिष्ठिर के समय में पुस्तक मर्यादा थी।

- अब पुस्तकोत्थ को समाप्त करके पुस्तक मर्यादा स्थापित करने के लिए वास्तविक व्याकरणग्रन्थ के विषय में सार्वभौम सभा का आयोजन वाञ्छित है।

इस विवरणपत्र में चक्रवर्ती राजा के लिए सार्वभौम शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐसे किसी राजा के अभाव में धरतीतल का उपकार करने वाले को सार्वभौम अथवा महायश: सार्वभौम की संज्ञा दी है। सब देशी राजाओं में राजा रामसिंह को अधिक समर्थ माना गया है। अत: उनके प्रयत्न से पुस्तक मर्यादा स्थापित होगी, ऐसी दण्डीजी को आशा थी।

विवरणपत्र की भाषा उस समय की उस क्षेत्र की लोक-प्रचलित भाषा है। इसमें उर्दू के शब्द भी हैं। आर्ष-अनार्ष शब्द का कहीं प्रयोग नहीं है। यदि किसी तिरस्कार करने योग्य पुस्तक का दो बार उदाहरण दिया गया है तो वह

है भागवतपुराण। दण्डीजी मानते हैं कि भागवतपुराण बोपदेव की कृति है और भागवत के लिए बोपदेव ने मुग्धबोध[15] व्याकरण रचा था।

दण्डीजी धर्म के नाम पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय चलाने के पक्षधर नहीं थे। इसीलिए वे सामान्य मनुष्यों द्वारा वृत्ति बनाने तथा टीका लिखने का विरोध करते थे। वे मानते थे कि प्राचीन आचार्यों का चिन्तन ऋषिकृत ग्रन्थों में सुरक्षित है। आधुनिक गुरुओं को इन पुस्तकों की मौखिक व्याख्या तक सीमित रहना चाहिए क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखित असंख्य पुस्तकों के कारण ही धार्मिक जगत् में अव्यवस्था पैदा हुई है तथा अवैदिक मत फैले हैं। योगीराज कृष्ण के जीवन सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं का प्रचार उन्हें पसन्द नहीं था। इसीलिए गोपालसहस्रनाम पुस्तक के लेखक को धूर्त्त कहा है।

अब तक अपने को गौरीशंकर का शिष्य कहने वाले विरजानन्द दण्डी ने सब पुराना पढ़ा व्याकरण (ऋषिप्रणीत से भिन्न) विस्मृत कर दिया। अत: विवरणपत्र में घोषणा की है कि शब्दशास्त्र में "**बाह्य गुरु दण्डी का नहीं (है)। पुस्तकस्थ सद्गुरु तो है।**" यह दण्डीजी की ऋषियों में श्रद्धा एवं आस्था की चरम अभिव्यक्ति है।

इस विवरणपत्र में मुकुन्ददेव ने चौदह श्लोक अधिक दिए हैं।[16] लगता है दण्डी जी ने ये श्लोक बाद में रचे, अन्यथा देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय इन्हें स्वरचित विरजानन्द-चरित में अवश्य स्थान देते। सार्वभौम सभा विवरणपत्र के इस भाग में दण्डी जी की स्थापना है कि

- काशी में मरने से मुक्ति नहीं मिलती। इसके विपरीत लेख किसी पामर का है, ऋषि का नहीं।
- गौतम ने कुछ निष्प्रयोजन व अशुद्ध नहीं लिखा। कणाद पौस्तक नहीं था। मीमांसा से न्याय तक दर्शनों से पुस्तकोत्थ अलग है।
- पाराशर ने ब्रह्मसूत्र की रचना कर जो वेदान्त की व्याख्या की है, वह पौस्तक है।
- ऋषिकृत ग्रन्थ पढ़ने से पहले पुण्य और फिर विद्या की प्राप्ति होती है।
- यदि सामान्य मनुष्य पुस्तक लिखते हैं तो यह नाश और समाप्ति है।

महाराजा सवाई रामसिंह के नाम दण्डीजी का प्रेषित पत्र सार्वभौम-सभा-विवरणपत्र की भाँति महत्त्वपूर्ण तथा उनके चिन्तन को समझने में सहायक है। आगरा दरबार के कई वर्ष पश्चात् दण्डी जी द्वारा यह पत्र[17] परमसुख के

पत्रोत्तर में जयपुर नरेश महाराजा सवाई रामसिंह को लिखा गया था। इसके अतिरिक्त दण्डीजी द्वारा प्रेषित कोई अन्य पत्र उपलब्ध नहीं है। इस पत्राचार से स्पष्ट है कि कुछ राजा-महाराजा विभिन्न मतमतान्तरों के विषय में दण्डीजी से मार्गदर्शन प्राप्त किया करते थे।

पत्र में दण्डीजी लिखते हैं कि कुछ मनुष्यों द्वारा व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करके अपने मनमाने नियम कल्पित करने एवं पुस्तकें लिखने से धर्म-मार्ग में अराजकता उत्पन्न हो गई है। इससे न केवल रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, स्वामीनारायण आदि अगणित अनार्षमत फैले हैं अपितु दादू, कबीर, नानक आदि के सैकड़ों पन्थ प्रचलित हो गए हैं। जब से ब्राह्मणों की व्याकरण में गति नहीं रही, तभी से ऋषि पुस्तकों में मिलावट हुई है और अनृषि मत, पन्थ एवं सम्प्रदाय फैले हैं। इन मतमतान्तरों एवं पन्थों का फैलाव रोकने के लिए व्याकरण के केवल ऋषिकृत ग्रन्थ अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य का प्रचलन अनिवार्य है। ऋषिकृत ग्रन्थों में प्रक्षिप्त अंश मिलाकर नए ग्रन्थ बनाने वालों, ऐसे ग्रन्थों तथा उन ग्रन्थों को पढ़ने व पढ़ाने वालों को दण्डी जी ने कत्रि अथवा कुत्सितत्रयी कहा है। सामान्य व्यक्तियों की टीका एवं व्याख्या में पूर्णता नहीं होती, अत: टीका लिखने वाले ऐसे मनुष्यों को पागल माना है। व्याकरण के पूर्ण ज्ञाता को जगद्गुरु घोषित किया है, जिसका तथा ऋषिकृत ग्रन्थों का प्रमाण चारों वर्ण मानते हैं।

इस पत्र में चारों वैष्णव सम्प्रदायों, कौमुदी, भागवतपुराण, मिताक्षरा, वीरमित्रोदय, मुक्तावली, जागदीशी आदि पुस्तकों, अवच्छेदकावच्छिन्न, अन्विताभिधानवाद, स्फोटवाद आदि सिद्धान्तों का खण्डन और वैदिक धर्म का मण्डन किया गया है। भट्टोजि दीक्षित, रंगाचार्य तथा दिल्ली के पण्डित हरिश्चन्द्र को धूर्त, इस देश को आर्यावर्त एवं धर्म को वैदिक धर्म की संज्ञा दी है। दण्डी जी की धारणा है कि व्याकरण ग्रन्थों में व्याप्त अराजकता दूर होने से झूठे अवैदिक सम्प्रदाय स्वयं समाप्त हो जाएंगे। यदि वाराणसी के पण्डित मनुष्यकृत ग्रन्थों को अनार्ष घोषित कर दें तो सम्प्रदायों का उच्छेद हो सकता है। इसीलिए अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए सार्वभौम-सभा के आयोजन के प्रस्ताव को इस पत्र में दोहराया गया है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. इस तिथि रहित पुस्तक का हस्तलेख पहले पैलेस लाइब्रेरी अलवर में था और अब वहाँ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में क्रमांक 3254 पर सुरक्षित है। लेखक ने इस हस्तलेख की छाया प्रति वहाँ से प्राप्त कर दयानन्द महिला महाविद्यालय, कुरुक्षेत्र में दिसम्बर 2001 में रखवा दी है। इस हस्तलेख का डॉ. रणवीरसिंह के निर्देशन में मुकेश रानी ने सुन्दर सम्पादन किया है (द्रष्टव्य : विरजानन्दकृत 'शब्दबोध' का सम्पादन एवं अनुशीलन, एम.फिल्. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघुशोध-प्रबन्ध, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, जून 2005)।

2. शब्दबोध के आरम्भ में मंगलाचरण में दण्डीजी लिखते हैं —

स्वल्पाऽऽयासाद् बहूञ्शब्दान् बोधयत्यवलोकनात्।
ततो ग्रन्थस्य नामास्य शब्दबोध इतीर्यते॥३॥
संकेतो योऽनुभूत्युक्तो, यश्च भगवत्पाणिनेः।
प्रयोग-सिद्धावनयो ऋज्वर्थ स मृज्यते ॥४॥
ये व्युत्पत्तिं समीहन्ते, सावकाशा न विस्तरे।
ते पठन्त्वमुमेवाथानुमोदन्तां च सज्जनाः॥६॥

3. नमो वः पाणिनेऽभीक्ष्णं कात्यायन पतञ्जले।
तत् साधय येनाहं कुर्यां धूर्तनिराकृतिम्॥
ग्रन्थोऽशुद्धोऽधियः शुद्धं मत्वा क्लिश्यन्ति यत्नतः।
व्याख्याते तु मया भाष्यं पर्यालोच्यैव कृत्स्नशः॥
मीमांसितेषु वाक्येषु शक्या धूर्तनिराकृतिः।
अतोऽयं वाक्यमीमांसा नाम्ना ग्रन्थः प्रवर्त्स्यति॥

4. द्रष्टव्य : विरजानन्द-प्रकाश के पृष्ठ 113-114 पर युधिष्ठिर मीमांसक लिखित विश्लेषण

5. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित, पृष्ठ 87; तुलना, विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 119

6. द्रष्टव्यः अखिलानन्द शर्मा, दयानन्द दिग्विजयम्, पृष्ठ 33; बाद में ये पुस्तकें अनूपशहर (जिला बुलन्दशहर) निवासी सुबोधचन्द्र के पास चली गईं। विरजानन्द निर्वाण शताब्दी वर्ष में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली ने पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश सम्मति के लिए पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु को भेजा था। उन्होंने इसकी प्रतिलिपि अपने छात्रों से करवा ली थी, जो रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली (सोनीपत, हरियाणा) के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसी की फोटोस्टेट लेखक ने दयानन्द महिला महाविद्यालय, कुरुक्षेत्र में रखवा दी है। वाक्यमीमांसा अब कहीं उपलब्ध नहीं है।

7. किसी भी अन्य अध्याय के पाद के अन्त में ग्रन्थकर्ता की चर्चा नहीं है।

8. अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के तीसरे पाद के सूत्र 36, 47 तथा 63 और चौथे पाद के सूत्र 24, 25, 28-30, 33, 37, 38, 45, 46, 54, 55, 88 तथा 89 में प्रयुक्त कुछ पदों की व्याख्या में ये आर्ष उदाहरण दिए गए हैं।

9. अष्टाध्यायी (1.4.3 तथा 1.4.8) की व्याख्या

10. अष्टाध्यायी (1.4.80) की व्याख्या

11. परिशिष्ट 3; दण्डीजी की महाराजा रामसिंह से आगरा में भेंट के पश्चात् लिखा गया यह विवरणपत्र दण्डीजी से युगलकिशोर को प्राप्त हुआ था। उनसे देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लेकर विरजानन्द-चरित में 1919 ई. में प्रकाशित किया था।

12. पुस्तकोत्थ —पुस्तक से उठा, पुस्तकों की भरमार

13. यही सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने लिखा है। नीलकण्ठ कृत देवीभागवत की टीका के उपोद्घात में लिखा है— **विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति।** कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय के सूचीपत्र में भागवत को बोपदेव कृत माना गया है। कवीन्द्राचार्य शाहजहाँ के समकालीन थे। बर्नियर ने अपने यात्रा वृत्तान्त में उन्हें उस समय के 'भारत के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में से एक' बताया है (द्रष्टव्य: बलदेव उपाध्याय, काशी की पाण्डित्य परम्परा, पृष्ठ 77-87)।

14. पाणिनि के सूत्रों की संस्कृत व्याख्या को वृत्ति कहते हैं। इसमें सम्बद्ध सूत्र की व्याख्या के साथ-साथ ऊपर के सूत्रों से आने वाली अनुवृत्ति का भी उल्लेख रहता है।

15. मुग्धबोध वोपदेव (1230-1293 ई.) रचित लघु व्याकरण है, जो बंगाल में प्रसिद्ध हुआ था। उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने इसे प्रचुर मात्रा में उद्धृत किया।

16. ये श्लोक इस पुस्तक में पृष्ठ 158-159 पर दिए गए हैं। इन चौदह श्लोकों का भाषा अनुवाद पहले नहीं था, शेष विवरणपत्र का था।

17. यह तिथि रहित पत्र जयपुर में महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय पोथीखाना एम.जे.एम. संग्रह में ग्रन्थांक 720/1 पर है। इसे पुस्तक की संज्ञा दी गई है। इसका शीर्षक है— "पुस्तक मथुराहला सूरदास दण्डी लिखी जो परमसुख जी की मारफत आई सो।" यह पत्र ब्रजमोहन जावलिया ने परोपकारी के मार्च 1995 के अंक में तथा मूलपाठ को भाषा की दृष्टि से परिष्कृत कर भवानीलाल भारतीय ने वेदवाणी के आषाढ़ तथा श्रावण 2052 वि. के अंकों में प्रकाशित किया था। मूल पत्र के लिए द्रष्टव्य: परिशिष्ट 4; **यह पत्र 1864 ई. के भी बाद का लिखा हुआ है** (द्रष्टव्य: पृष्ठ 170, टिप्पणी 24)।

व्यक्तित्व

गोरा रंग, दरम्याना कद, पतला शरीर, असाधारण तीव्रबुद्धि, प्रत्युत्पन्नमति, विलक्षण स्मृति, अनुपम धारणा शक्ति, स्वतन्त्र-प्रज्ञता, मौलिक चिन्तन, निश्छल जीवन, स्वभाव में तेजी, प्रभु भक्ति, शास्त्र-चिन्तन एवं अध्यापन से भिन्न सांसारिक रुचियों का नितान्त अभाव, पूर्ण वैराग्य, निर्भीक स्पष्टवादिता, विरोध के बावजूद अपने सिद्धान्त पर अडिगता, पूरे दबंग, कोई लाग-लपेट नहीं — ऐसा कुछ है दण्डीजी का स्वरूप। बाल ब्रह्मचारी एवं पूर्ण जितेन्द्रिय दण्डीजी ने घर छोड़ा तो फिर उसका स्मरण तक न किया। परिवारजनों की किसी से चर्चा न की। कठिन पद-यात्राओं की व्यथा-कथा किसी से न कही। बस, अपने विचारों के अनुसार प्रभु के सहारे जीवन जिया।

स्वामी विरजानन्द सरस्वती को मथुरा में श्रद्धापूर्वक दण्डीजी, दण्डी स्वामी, प्रज्ञाचक्षु अथवा बड़े महाराज कहते थे। कोई-कोई लोकभाषा में सूरदास कह देता था। उनके चिन्तन के विरोधी एवं उनके प्रतिद्वंद्वी उन्हें अन्धा या धृतराष्ट्र कहकर सन्तोष प्राप्त करते थे।

वे ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नानादि प्रातःकृत्यों से शीघ्र निवृत्त हो जाते थे। फिर प्राणायाम करते और ध्यानावस्थित हो जाते। तब सूर्योदय से दोपहर तक अध्यापन के लिए उपस्थित रहते थे। दिन में विश्राम के आदी नहीं थे परन्तु अति वृद्धावस्था में दोपहर को भोजन के पश्चात् अपनी गद्दी पर लेटकर दस-पन्द्रह मिनट आराम कर लेते थे। तत्पश्चात् एक-दो पत्र लिखवाकर सायं तक पढ़ाते रहते थे। सायं को फिर स्नान करते और ध्यान में निमग्न हो जाते। तत्पश्चात् कोई शिष्य पढ़ना चाहता तो उसे पढ़ा देते थे। रात को भी बहुत कम सोते थे। रात को प्रायः ग्यारह बजे के बाद शयन करते थे। अध्यापन से बचा सारा समय ध्यान तथा शास्त्र-चिन्तन में व्यतीत होता था। यही उनका ध्येय था, यही मनोरंजन। एक बार आधी रात के समय चिन्तन करते हुए अष्टाध्यायी के किसी सूत्र का समाधान सूझ गया, तभी उदयप्रकाश का दरवाजा जा खटखटाया। खुशी-खुशी कहने लगे — अभी लिख लो, कभी भूल जाऊँ।

पाठशाला (ड्योढी) में लौकिक वार्तालाप पूर्णतया निषिद्ध था। इसीलिए द्वार

बन्द रखते थे। ज्ञान-ध्यान में रमण करने वालों के लिए ही पट खोला जाता था। केवल दर्शनार्थ आने वालों को उत्साहित नहीं करते थे।

योगाभ्यास में अपेक्षाकृत हलका भोजन ही सुविधाजनक है। इसलिए प्रायः दुग्धपान अथवा फलाहार करते थे। कभी दूध में छुहारे और कभी सौंफ उबालकर पीते थे। कभी सवा सेर दूध के साथ एक छटाँक[1] सूंठ ले लेते थे। सेर भर दूध जब गर्म करते-करते तीन पाव रह जाता, तो उसमें एक छटांक शक्कर मिलाकर पीते थे। कभी-कभी शुण्ठी के साथ सैन्धव नमक मिलाकर प्रयोग करते थे। कभी ऋत्वनुसार केवल खरबूजा, आम, सेब, नारंगी, अंगूर आदि फल ही ग्रहण करते थे। अनार का रस उनका प्रिय पेय था। इसे निकालकर रख लेते और फिर इच्छानुसार पीते रहते थे। वे प्रतिदिन सूर्योदय से पूर्व आधी छटाँक काली मिर्च और आध पाव घृत लेते थे। शुण्ठी, लौंग, शुद्ध भल्लातक (भिलावा) और ज्योतिष्मती (मालकंगनी) को कूटकर अथवा कुटवाकर रख लेते थे और प्रायः दस बजे इसे खाते थे। अन्नाहार बहुत कम करते थे। फिर भी कभी-कभी केवल अन्न पर निर्वाह करते थे। उन्हें बालूशाही और जमीकन्द बहुत पसन्द थीं। लौंग उन्हें बहुत प्रिय थी। प्रायः ज्योतिष्मती (मालकंगनी) तथा मूंग का सेवन करते थे। कभी मेथी के साग में आध पाव घी डालकर खाते थे। इस तरह भोजन सदा एक जैसा नहीं होता था। उनकी भोजन-सामग्री सदा उत्तम कोटि की तथा महंगी होती थी। प्रत्येक पदार्थ पर्याप्त मात्रा में खरीदते थे। बासी भोज्य पदार्थ का सेवन नहीं करते थे। महंगी से महंगी वस्तु भी रुचिकर न लगने पर फेंक दी जाती थी। वे बहुत अच्छे वैद्य थे। अतः वैद्यक-शास्त्रों के आधार पर पदार्थ ग्रहण करते और छोड़ते थे। दण्डीजी कम वस्त्र पहनते थे। वे पादुकाएँ प्रयोग करते थे। उनकी पादुकाएँ नवनीत कविवर के प्रपौत्र के पास हैं।

एक बार भूल से शुण्ठी-चूर्ण समझकर एक तोला संखिया खा गए। जब विष चढ़ने लगा तो पाठशाला में रखे चार मटके पानी धीरे-धीरे सिर पर डालते रहे। कुक्कटासन, मयूरासन आदि करते रहे। शाम तक आराम आ गया। तब युगलकिशोर आदि शिष्यों ने सेवा-चिकित्सा की थी। एक बार गंगा के किनारे वास के दिनों में सारा शरीर सूज गया था। तब वैद्यक-शास्त्रों में वर्णित किसी औषध का सेवन किया। शरीर की काफी त्वचा उतरकर नई आ गई थी।

दण्डीजी सफाई पसन्द थे। पलंग की चादर आठवें दिन अवश्य धुलवाते थे। सोने से पहले हाथ फेरकर देख लेते कि उसपर धूल तो नहीं है। पूछते रहते कि रंग उड़ा हुआ तो नहीं है। उन दिनों मिट्टी का तेल नहीं था। अतः तिल का

तेल जलाते थे।

मथुरा में दण्डीजी को कभी किसी ने मूर्त्तिपूजा करते या दर्शनार्थ मन्दिर जाते नहीं देखा। स्वयं मूर्त्तिपूजक पण्डित मुकुन्ददेव ने भी उनके जीवन-चरित में अन्यथा नहीं लिखा। हाँ, वे दुर्गा-सप्तशती का पाठ किया करते थे।[2] इसमें उन्होंने कई श्लोकों का स्वयं पाठ भेद कर लिया था,[3] जैसे — **कालरात्रि-र्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा** (1.79) को **कालरात्री महारात्री मोहरात्री च दारुणा** पढ़ते थे।[4] दण्डी जी ने व्याकरण के नियमानुसार स्वल्प परिवर्तन कर लिया था।[5] बाद में गुरु-शिष्य दोनों के विचार समान थे। तब उन्होंने दुर्गापाठ त्याग दिया होगा। वे आरम्भ से ही ओ३म् तथा गायत्री का जप किया करते थे। वैसे उनका झुकाव शैवमत की ओर था। मथुरा-वृन्दावन क्षेत्र पर वैष्णवों का एकाधिकार था। उन दिनों सारी मथुरा नगरी में केवल मात्र एक शिव मन्दिर था। ऐसा लगता था कि मानो कृष्ण की नगरी में शिव पासपोर्टधारी विदेशी हो।[6] इस नगर में शिवभक्त ब्राह्मणों की संख्या भी कुल जनसंख्या के पाँच प्रतिशत से अधिक न थी।[7] दण्डीजी के विचारों पर मथुरा के वातावरण का प्रभाव स्पष्ट है।

दण्डीजी संस्कृत के तो धुरन्धर पण्डित थे ही, फ़ारसी में भी अच्छी गति थे। अंग्रेज़ी के कुछ शब्द ही जानते थे। उन्होंने युगलकिशोर से अंग्रेज़ी सीखनी शुरू की थी पर यह क्रम अधिक न चल पाया। विद्या-विलासी, ईश्वर भक्त व सच्चे गुरु दण्डी जी सितार एवं वीणा-वादन और संगीत में निपुण थे।

दण्डीजी दृढ संकल्पी समाज सुधारक थे। निर्मूल रूढ़ियों के घोर विरोधी थे। रोमा रोलां के अनुसार वे ''अन्ध विश्वासों के प्रति घृणा और दुर्बलता की निन्दा में दयानन्द से कहीं अधिक कठोर थे।''[8] उन्हें हीनता पसन्द नहीं थी। इसलिए ब्राह्मण के नाम के साथ दास शब्द के प्रयोग का विरोध करते थे।[9] उनका कहना था कि सच्चा ब्राह्मण कभी दास नहीं हो सकता। एक दिन मथुरा के छबीलदास कुंज के महन्त का एक शिष्य सेवा में उपस्थित हुआ। उसका नाम गंगादास सुनकर झटपट कहने लगे, 'गंगादेव या गंगादत्त कहो, गंगादास नहीं।' दण्डीजी योग्यता का आदर करते थे। विद्वानों के लिए उनके हृदय में बहुत सम्मान था परन्तु अपूज्यों की पूजा के विरोधी थे। भद्रजनों के साथ व्यवहार तथा वार्तालाप में शिष्ट थे परन्तु बिना लाग-लपेट के सत्यवादी थे। अत: उनका कथन कई बार अप्रिय लगता था, जिस कारण कुछ लोग उन्हें क्रोधी मानते थे। मथुरा में यह प्रसिद्ध था कि दण्डीजी तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कभी झूठ नहीं बोला। दण्डीजी से यदि कभी अनजाने में भी अन्यथा हो जाता, तो बच्चे के

समक्ष भी क्षमा मांग लेते और कर्ण-स्पर्श तक करते थे।

कुछ अर्थों में वे अतिवादी थे। कार्यसिद्धि के लिए कभी साधनों एवं परिस्थितियों की चिन्ता न की। यदि कुछ करने का निश्चय कर लिया, तो कर लिया —भले ही तदर्थ साधनों का नितान्त अभाव हो। अदम्य साहस की मूर्ति दण्डीजी को जीवन की विपदाएँ एवं संघर्ष परास्त न कर सके; न उन्हें पलायनवादी एवं समझौतावादी बना पाए। विषम परिस्थितियों के कारण उनके जुझारू स्वरूप में निरन्तर निखार ही आया।

दण्डीजी सभी कार्य नेत्रवानों की तरह करते थे। एक पात्र से दूसरे पात्र में जल उंडेलते समय एक बून्द भी बाहर गिरने न देते थे। सीढ़ी चढ़ते-उतरते तथा मार्ग में आते-जाते किसी की सहायता न लेते थे। अलवर प्रवास के दिनों एक बार वे अपने शिष्य परमसुख के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में नहर थी। परमसुख ने सावधान कर दिया। बस, नाराज़ हो गए। बिना परमसुख की सहायता के कई बार नहर के आर-पार जाकर उसे चकित कर दिया।

दण्डीजी शास्त्र-द्रष्टा थे। आँख का दृष्टि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। नेत्रवान् दृष्टिहीन हो सकता है। कई बार आँखों देखा फरेब होता है। प्रज्ञाचक्षु ही वास्तविक द्रष्टा है। दण्डीजी प्रज्ञाचक्षु थे और सच्चे द्रष्टा भी। वे बौद्धिक स्तर पर अपने समकालीन धुरन्धर पण्डितों से कहीं आगे थे। उनकी तर्कशक्ति और शास्त्रीय ज्ञान आश्चर्यजनक था।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. एक सेर में चार पाव तथा सोलह छटाँक और एक छटाँक में पाँच तोले होते थे।
2. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द-चरित, पृष्ठ 115
3. पीलीभीत के पण्डित अंगद शास्त्री द्वारा 13 सितम्बर, 1878 को ऋषि दयानन्द के नाम लिखे पत्र पर वैदिक यन्त्रालय के तत्कालीन प्रबन्धक मुन्शी बख्तावरसिंह की टिप्पणी द्रष्टव्य है -- "हां, सप्तशती स्तोत्र का पाठ निस्सन्देह करते थे परन्तु उसको शुद्ध बना लिया था, उसके अनुसार करते थे" (महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग 3, पृष्ठ 65 पाद टिप्पणी)।
4. मुकुन्ददेव, दण्डी जी जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 11
5. इस प्रसंग में **रात्रेश्चाजसौ** (अष्टाध्यायी, 4.1.31) पर विचार करना उपयुक्त है।
6. Bholanauth Chunder, The Travels of a Hindoo, Vol. II, p.29
7. D.L. Drake - Brokeman, Muttra, a Gazetteer, being Vol. VII of the District Gazetteer of the United Provinces of Agra and Oudh, pp.99, 306
8. रोमा रोलां, रामकृष्ण की जीवनी, पृष्ठ 133
9. चक्राङ्कित वैष्णव जिन पाँच संस्कारों को मुक्ति का हेतु मानते हैं, उनमें दास शब्दान्त नाम रखना भी एक है।

संघर्षरत

दण्डीजी की वेद तथा आर्षग्रन्थों में पूर्ण श्रद्धा और कौमुदी, शेखर, मनोरमा, भागवत पुराण आदि ग्रन्थों में बहुत अश्रद्धा थी। अनार्षग्रन्थों के खण्डन में वे पूर्ण निष्ठा, दृढ़ता एवं निर्भीकता के साथ सिंह समान गरजते थे। विभिन्न मनुष्यों द्वारा चलाए गए सम्प्रदायों तथा पन्थों के घोर विरोधी थे। उन्होंने अपने जीवन का एक लम्बा भाग वैष्णव सम्प्रदाय के विरुद्ध संघर्ष में लगा दिया। विगत कई सौ वर्षों में भारत में प्रचलित मत-मतान्तरों का खण्डन करने वाले वे प्रमुख मनीषी थे। इस तरह सम्प्रदायों का विरोध कर उन्होंने अनायास ही सामाजिक एकता का बीजवपन किया। जब कहीं साम्प्रदायिक विवाद हो जाता तो प्राय: उस सम्प्रदाय का मूल जानने के लिए दण्डीजी की सहायता ली जाती थी। सन् 1865-66 में जयपुर में शैव-वैष्णव विवाद जोरों पर था। अनेक वैष्णव नगर छोड़कर चले गए थे।[1] ऐसी परिस्थितियों में राजा रामसिंह दण्डी जी से धार्मिक प्रश्न एवं सामयिक समस्याओं का समाधान पूछते रहते थे। वे उनका यथोचित मार्गदर्शन करते थे तथा सम्प्रदायों के खण्डन में पत्र लिखा करते थे।

दण्डीजी वेद-प्रतिपादित धर्म के पक्षधर थे। धर्म के वास्तविक स्वरूप को पहचानने के लिए आर्षग्रन्थों का पठन-पाठन आवश्यक मानते थे। अत: अब उन्हें अष्टाध्यायी के ही प्रचार की धुन थी। मथुरा में बाहर से जो भी पण्डित आता, वे उसे अपनी पाठशाला में बुलाते तथा अपना मन्तव्य समझाने लग जाते।[2] इसी प्रसंग में नवम्बर 1860 के पश्चात् दण्डीजी का वासुदेव स्वामी से वृन्दावन में हिम्मत बहादुर की कचहरी (यहाँ अब शाहजी मन्दिर है) में शास्त्रार्थ हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इसमें उपस्थित थे।

काशी के पण्डित भी अष्टाध्यायी पर अधिकार न होने के कारण निरुत्तर हो जाते थे। एक बार कुछ पण्डित विद्यार्थी बनकर दण्डीजी के पास आए।
दण्डीजी ने पूछा, कहाँ से पधारे हो?
उत्तर मिला — महाराज! विदुष्मती काशी से।
दण्डीजी ने पूछ लिया, **कथं काशी विदुष्मती?**
पण्डित बोले, महाराज! यदि काशी विदुष्मती नहीं है, तो क्या मथुरा विदुष्मती

है ? आप अपने घर में बैठकर विश्वनाथ की पुरी काशी की निन्दा कर रहे हो। दण्डी जी, पण्डितराज! मैं निन्दा नहीं कर रहा अपितु विदुष्मती पद की सिद्धि पूछ रहा हूँ। यह सुनकर सभी पण्डित मौन रह गए। फिर सोचकर कहने लगे, इस पद की सिद्धि कल करेंगे। दण्डी जी बोले, कल करो चाहे परसों। चाहे काशी जाकर अपने अध्यापकों से पूछ लेना। पण्डित उठकर चले गए पर पद की सिद्धि न बता सके।[3]

नेत्रहीन आशुकवि गट्टूलाल शतावधानी मुम्बई के प्रसिद्ध पण्डित, काव्यालंकार शास्त्र के विद्वान् तथा वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे सम्भवत: 1863 ई. में गोकुल पधारे।[4] तब उनका यहाँ दण्डीजी से शास्त्रार्थ तय किया गया। दण्डीजी अपने दो शिष्यों दामोदरदत्त और गयाप्रसाद के साथ शास्त्रार्थ हेतु गोकुल पहुँच गए। गोस्वामी गोपाललाल मध्यस्थ बने। पण्डित गट्टूलाल ने **एधितव्यम्**[5] पर अपनी कविता सुनाई। दण्डीजी ने उसमें कई दोष बताए। पण्डित गट्टूलाल कोई उत्तर न दे सके। फिर दण्डीजी ने दामोदरदत्त को श्लोक लिखवाया और उसकी व्याख्या की। पण्डित गट्टूलाल उसमें कोई त्रुटि न निकाल पाए। गोस्वामी गोपाललाल दण्डीजी की विद्वत्ता पर मुग्ध होकर कहने लगे कि यदि मथुरा गोकुल से दूर न होती तो वह प्रतिदिन उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुआ करते और उनसे अध्ययन करते।

पण्डित मणिराम व्याकरण, काव्य तथा तर्कशास्त्र के अधिकारी विद्वान् और फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता माने जाते थे। वे भरतपुर के महाराजा जसवन्तसिंह को पढ़ाया करते थे। पण्डितजी प्राय: अपने मित्र पण्डित उदयप्रकाश को मिलने मथुरा आते रहते थे तथा कई-कई दिन उनसे शास्त्र-चर्चा किया करते थे। जब उन्हें पता चला कि पण्डित उदयप्रकाश दण्डीजी के शिष्य बन गए हैं तो पूछने लगे-- मित्र! सुना, तुमने भी दण्डीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। वे कुछ जानते भी हैं या **घटं भित्त्वा पटं छित्वा कृत्वा रासभरोहणम्। येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्**[6] का ही उदाहरण हैं ? पण्डित उदयप्रकाश ने उत्तर दिया कि आप स्वयं दण्डीजी से मिलकर तसल्ली कर लीजिए। आपको ज्ञात हो जाएगा कि इस धरती पर कैसे-कैसे रत्न विद्यमान हैं।

तब दोनों दण्डीजी की सेवा में उपस्थित हुए, अभिवादन किया और उदयप्रकाश ने मणिराम का परिचय करवाया। फिर मणिराम ने स्वरचित दस-बारह श्लोक सुनाकर उनकी व्याख्या की। बीच-बीच में फ़ारसी काव्य से तुलना करते रहे।

दण्डीजी बोले— मणिराम! तुम्हारी कविता सुन्दर है परन्तु यदि अष्टाध्यायी पढ़े होते तो जो छोटे-छोटे दोष हैं, वे भी न रहते। मणिराम ने अपनी कविता में त्रुटियाँ जाननी चाहीं। दण्डीजी ने न केवल संस्कृत में दोष बताए अपितु फ़ारसी की त्रुटियाँ भी समझाईं। बस, दोनों में शास्त्रार्थ छिड़ गया। आखिर मणिराम ने अपनी कमियाँ स्वीकार करते हुए कहा — महाराज! जब से मेरे मित्र उदयप्रकाश आपके शिष्य बने थे, मैं भी तभी से स्वयं को आपका छात्र मानता हूँ। कभी दो-चार महीने श्रीसेवा में रहकर अष्टाध्यायी पढ़ूँगा।[7] कुछ समय पश्चात् पण्डित मणिराम का निधन हो गया और उनके मन की बात मन में रह गई।

दिल्ली का प्रसिद्ध पण्डित हरिश्चन्द्र[8] बड़ा टेढ़ा व्यक्ति था। अनेक पण्डितों को वह चकमा दे चुका था। उसे बड़ा मान प्राप्त था। वह जहाँ भी जाता, सेवक उस पर छत्र रखते और चमर डुलाते थे। सम्भवतः 1865 ई. की बात है। एक दिन उसने बिना अनुमति पाठशाला में प्रवेश किया। दण्डीजी किसी छात्र को पढ़ा रहे थे। उसने बीच-बीच में आलोचना शुरू कर दी। दण्डीजी ने पूछा— कौन हो तुम? उत्तर दिया — दिल्ली में पण्डित हरिश्चन्द्र का पड़ौसी एक कायस्थ हूँ? उनके साथ रहते-रहते कुछ संस्कृत सीख गया हूँ? वाणी सुनकर व्यक्ति को पहचानने में दक्ष दण्डीजी ने कहा — असत्य मत बोलो। तुम स्वयं हरिश्चन्द्र हो, न कि उसके पड़ौसी। अच्छा, अब अपनी बात सिद्ध करो। चालाकी पकड़ी जाने से लज्जित हरिश्चन्द्र कुछ न बोल सका और चुपचाप चला गया। दण्डीजी पुनः छात्र को पढ़ाने लग गए।

ग्वालियर के पण्डित गोपाल आचार्य मथुरा पधारे। सेठ गुरुसहायमल ने उन्हें अच्छा वैयाकरण मानकर एक सौ रुपये भेंट किए। जब यह समाचार दण्डीजी को विदित हुआ तो उन्होंने सेठजी को कहलवा भेजा कि यूँ आचार्य जी का कुछ भी सम्मान करो परन्तु यदि उन्हें वैयाकरण मानते हो तो हमें भी यह निश्चय करवा दीजिए। सेठजी दण्डीजी का स्वभाव तथा वैचारिक दृढ़ता जानते थे, अतः चुप हो गए। पर काशी से आए पण्डित विश्वेश्वर शास्त्री ने आचार्य जी को शास्त्रार्थ के लिए तैयार कर लिया। रंगाचार्य की मध्यस्थता में वृन्दावन में उन्हीं के मन्दिर में शास्त्रार्थ तय हुआ। आचार्य गोपाल का पक्ष था कि भाव एक प्रकार का है और इसकी द्वैधता महाभाष्य में नहीं है। परन्तु दण्डीजी ने अष्टाध्यायी (3.1.67) सूत्र **सार्वधातुके यक्** के भाष्य के आधार पर भाव की द्वैधता (आभ्यन्तर तथा बाह्य) सिद्ध की। इस पर रंगाचार्य ने

दण्डीजी की बहुत प्रशंसा की।

सरयूपारीण ब्राह्मण पण्डित गंगाराम शास्त्री तीर्थ-यात्रा करते हुए मथुरा आए। यहाँ उन्होंने कई पण्डितों से शास्त्र-चर्चा की। एक दिन वे दण्डीजी के दर्शनार्थ भी गए। दण्डीजी ने अपने प्रिय विषय पर वार्तालाप शुरू कर दिया और अनार्षग्रन्थों का खण्डन किया। शास्त्रीजी बहुत प्रभावित हुए और कहने लगे कि भविष्य में वे भी पाणिनि का प्रचार किया करेंगे।

इसी तरह काशी के प्रसिद्ध पण्डित सखाराम भट्ट[7] दण्डी जी की पाठशाला देखने मथुरा आए। प्रश्न पूछने से पूर्व वे कई दिन उन्हें अध्यापन करते देखते रहे। दण्डी जी भी समझ गए कि वह उनकी पाण्डित्य की परीक्षा लेने आए हैं। एक दिन सखाराम ने महाभाष्य के किसी दुरूह-स्थल के विषय में शंका की। दण्डी जी ने उसका ऐसा समाधान किया कि सखाराम उनकी विद्वत्ता से बहुत प्रभावित हुए।

स्वामी आदित्यगिरि अपने एक सौ से अधिक शिष्यों के साथ मथुरा पधारे और गोकर्ण मन्दिर के पास की धर्मशाला में आसन जमा लिया। वे प्रतिदिन सायंकाल धर्मशाला में भगवद्गीता की कथा करते थे। भारी संख्या में श्रद्धालु कथा सुनने आने लगे। सभी उनकी विद्वत्ता से प्रभावित थे। दण्डीजी हाथ से अवसर कब जाने देते थे? उन्होंने अपने दो शिष्य युगलकिशोर तथा सोहनलाल उनके पास कौमुदी के दोषों की चर्चा करने के लिए भेजे। कथा की समाप्ति पर शिष्यों ने स्वामीजी से कौमुदी की अशुद्धता पर वार्तालाप शुरू कर दिया। विद्यार्थियों के मुख से कौमुदी की आलोचना सुनकर स्वामीजी स्तब्ध रह गए। बातचीत में दोनों छात्रों ने बताया कि वे दण्डीजी के शिष्य हैं और उनके आदेश पर ही स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए हैं। तब स्वामीजी ने कहा कि वे स्वयं दण्डीजी से मिलकर इस विषय की मीमांसा करेंगे। फिर स्वामी आदित्यगिरि दण्डीजी से मिलने गए। वार्तालाप के पश्चात् उन्होंने स्वीकार किया कि वस्तुतः कौमुदी अशुद्ध है। पण्डित गंगाराम शास्त्री तथा स्वामी आदित्यगिरि ने दण्डीजी को ऐसा लिखकर भी दिया था।

नैयायिक धरणिधर ने चौदह वर्ष नवद्वीप में नव्य न्याय का अध्ययन किया था। वे मथुरा आए तो स्वामी विरजानन्द से शास्त्र-चर्चा के लिए उपस्थित हो गए। दण्डीजी का दर्शनशास्त्रों पर भी पूर्णाधिकार था। थोड़े वार्तालाप के पश्चात् पण्डित धरणिधर ने कहा — मैंने नवद्वीप में चौदह वर्ष व्यर्थ नष्ट

किए। इससे अच्छा तो आपसे पढ़ लेता।

एक बार एक चतुर पण्डित दण्डीजी को परास्त करने के लिए आया। वह इतना निपुण था कि स्वयं कम बोलता था और विपक्षी पण्डित से अधिक बुलवाता था। उसकी स्मरण-शक्ति तेज थी। वह दण्डीजी का कथन सुनकर उसे उसी तरह दोहरा कर कह देता — स्वामी जी! यह तो दास को पहले ही पता था। आपने कोई नई बात तो कही नहीं। थोड़ी देर में दण्डीजी उसकी चतुराई समझ गए। अब दण्डीजी ने गणपाठ में आए अप्रचलित शब्दों से युक्त संस्कृत बोलनी शुरू कर दी। पण्डित सारा कथन तो क्या आधा भी याद न रख पाया। अत: उसने स्वयं को इसे दोहराने में असमर्थ पाया। हार मान ली और स्वीकार किया — दण्डीजी! मुझे वैदिक शब्दों तथा संस्कृत का ज्ञान नहीं है, अत: इनके अर्थ तत्क्षण समझ नहीं सकता। इसलिए मेरी स्मृति इन शब्दों को धारण नहीं कर पाती। जिस कौशल से मैंने बड़े-बड़े पण्डितों को पराजित किया था, वह आपके समक्ष बेकार है। नि:सन्देह आप विद्या के भण्डार हैं।

दण्डीजी ने रंगाचार्य को भी अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पढ़ने की प्रेरणा दी थी पर वे उनके सुझाव पर मौन धारण कर गए। एक बार दण्डी जी कलेक्टर हार्डिंज के पास गए और उनसे आर्षग्रन्थों के प्रचार में सरकार से सहायता करने के लिए अनुरोध करने को कहा। कलेक्टर का उत्तर था — यह विषय हमारे अधिकार क्षेत्र से बाहर है।

एक यूरोपीय संस्कृत विद्वान् मथुरा आए।[10] यहाँ उन्होंने क्लेक्टर के बंगले पर कुछ प्रमुख विद्वानों को आमन्त्रित किया। दण्डीजी भी निमन्त्रण मिलने पर इस गोष्ठी में सम्मिलित हुए और उनसे अनार्षग्रन्थों का प्रचलन बन्द करवाने का अनुरोध किया। वार्तालाप में विदेशी विद्वान् ने सायण के वेदभाष्य की चर्चा की और कुछ वेद-मन्त्रों का उच्चारण किया। दण्डीजी से अशुद्ध मन्त्रोच्चारण सहन न हुआ। तत्काल बोल पड़े — ऐसा अशुद्ध मन्त्रोच्चारण करने वालों को वेदाध्ययन का अधिकार किसने दिया ? पराधीनता के उन दिनों में इतना साहसपूर्ण वक्तव्य सुनकर उपस्थित पण्डित मण्डली स्तब्ध रह गई। पर वीतराग साधु ने कोई परवाह न की और अनार्षग्रन्थों की अनुपादेयता पर मीमांसा करते हुए कहा कि सायणाचार्य की शैली आर्ष नहीं है। दण्डीजी की सायण सम्बन्धी इस टिप्पणी से यह स्पष्ट है कि उनकी श्रद्धा केवल व्याकरण के आर्षग्रन्थों तक ही सीमित नहीं थी, अपितु समूचे संस्कृत वाङ्मय में भी केवल आर्षग्रन्थों के ही

पक्षधर थे।

अपने मन्तव्य की प्राप्ति के लिए वे कोई भी अवसर हाथ से जाने न देते थे।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. द्रष्टव्य: देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द-चरित, पृष्ठ 103-108

2. इस अध्याय में वर्णित कुछ घटनाओं का काल तथा क्रम तय करना अब सम्भव नहीं है। वैसे ये सभी घटनाएँ आर्ष युग प्रवृत्त होने के बाद की हैं।

3. मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 6

4. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने पण्डित गट्टूलाल का मथुरा आना लिखा है (द्रष्टव्य: विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 196)।

5. शाब्दिक अर्थ है — बढ़ना चाहिए।

6. अर्थात् घड़े को तोड़कर, कपड़े को फाड़कर या गधे पर चढ़कर जैसे-कैसे भी हो, व्यक्ति को प्रसिद्ध होना चाहिए।

7. यह घटना पण्डित उदयप्रकाश के सुपुत्र मुकुन्ददेव ने देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को बताई थी (विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 198 पाद टिप्पणी)। इस घटना का 'दण्डी जी की जीवनी' में पृष्ठ 99-101 पर विस्तृत विवरण मिलता है। अत: मानना चाहिए कि दण्डीजी फ़ारसी भी जानते थे। (तुलना: पृष्ठ 8 टिप्पणी 18)।

8. कालान्तर में पण्डित हरिश्चन्द्र जयपुर में राजा रामसिंह के समीप रहने लगे। जब जयपुर में शैव और वैष्णवों का संघर्ष हुआ, तो उन्होंने शैवमत का समर्थन किया। तब उनकी भेंट स्वामी दयानन्द से हुई थी। राजा रामसिंह के साथ काशी भी गए थे। उसकी धूर्त्तता की लीला पण्डित मुकुन्ददेव ने 'दण्डी जी की जीवनी' के पृष्ठ 101-107 पर विस्तार से लिखी है।

9. सखाराम भट्ट राजाराम शास्त्री के ज्येष्ठ भ्राता थे। इस घटना के समय उनकी आयु सत्तर वर्ष से कुछ अधिक थी। काशी के पण्डितों में उनकी गणना मूर्धन्य विद्वानों में की जाती थी।

10. पण्डित लेखराम के अनुसार यह विदेशी विद्वान् साम्राज्ञी विक्टोरिया के ज्येष्ठ पुत्र प्रिंस ऑफ वेल्स के साथ भारत आया था (महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज का जीवन-चरित्र (हिन्दी), पृष्ठ 846)। पण्डित भीमसेन शास्त्री ने विक्टोरिया के द्वितीय पुत्र ड्यूक ऑफ एडिन्बरा के साथ आना लिखा है (विरजानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 87)। ये दोनों कथन सही नहीं हैं क्योंकि वे दोनों दण्डीजी की मृत्यूपरान्त क्रमश: नवम्बर 1875 तथा 1869 ई. में शाही दौरे पर भारत आए थे।

प्रतीक्षारत

प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द दण्डी अपने परम शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के सबल युवा कंधों पर आर्य संस्कृति के पुनरुद्धार का भार डालकर नैतिक दायित्व से मुक्त हो गए हैं। अब क्रान्ति की मशाल गुरु ने अपने शिष्य को थमा दी है। यद्यपि जीवन का बाकी बचा समय भी उन्होंने आर्षग्रन्थों के प्रचार में ही समर्पित किया[1] परन्तु अब वे जितना संघर्षरत हैं, उससे अधिक प्रतीक्षारत हैं। उन्हें प्रतीक्षा है उस क्षण की जब उनका मानसपुत्र दयानन्द सरस्वती मतमतान्तरों के चक्रव्यूह को ध्वस्त करेगा, जब शास्त्र-समर में उसकी विजय-पताका चहुँ ओर लहराएगी, जब दिशाएँ उसका यशोगान करेंगी। उसकी यशोगाथा सुनने के पश्चात् कोई इच्छा शेष न रहेगी। फिर इस धरा को सुशोभित करते रहे तो क्या? प्राण त्याग दिए तो क्या? जैसे कभी भीष्म पितामह शर-शैय्या पर थे, वैसे ही अब दण्डीजी प्रतीक्षा-शैय्या पर हैं। उधर मृत्यु को भी उनके निमन्त्रण की प्रतीक्षा है।

कारीगरों ने अनेक भवन बनाए हैं जो विश्व में अपनी कला के लिए प्रसिद्ध हैं परन्तु ताजमहल अतुलनीय है। इसका निर्माण केवल कारीगरों ने नहीं किया था। जब शाहजहाँ को औरंगजेब ने आगरा के किले में बन्दी कर लिया, तब शाहजहाँ के पास केवल एक कार्य ही शेष बचा था — वह था किले से ताजमहल को निहारना। वह अपने प्रेम के प्रतीक ताजमहल को निज नेत्रों से तराशता रहा और उसकी कमियाँ दूर करता रहा। इसी नेत्र-साधना ने ताजमहल को जो सौन्दर्य प्रदान किया, वह कमाल कारीगरों के हाथों में कहाँ था? इसी तरह इस धराधाम पर अनेक गुरुओं ने असंख्य शिष्यों को विद्या-दान दिया परन्तु जैसे विरजानन्द ने दयानन्द का अपने प्रज्ञाचक्षु से निर्माण किया, उसका उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा? दयानन्द प्रभु की अनुपम देन है, घोर तपस्या का फल है, पर वह गुरु की कृति भी है। जैसे वशिष्ठ ने कैकेयी को कहा था — महारानी! भरत वह नहीं है जिसे तुमने जन्म दिया। भरत वह है जिसका जन्म मेरे आश्रम में हुआ। आज गुरु विरजानन्द दण्डी भी दयानन्द के विषय में यही घोषणा साधिकार कर सकता है।

''महात्मा अगस्त्य के आश्रम से जैसे श्री रामजी दिव्य-अस्त्र-सम्पन्न

होकर जनस्थान को अग्रसर हुए थे, वैसे ही महात्मा विरजानन्द जी की कुटी से महाराज दयानन्द विद्या के अलौकिक अस्त्रों से सुसज्जित होकर कार्यक्षेत्राभिमुख हुए। श्री कृष्ण से प्रोत्साहन पाकर जैसे श्री अर्जुन की नाड़ी-नाड़ी और नस-नस में वीरता का रक्त खौलने लग गया था, ऐसे ही विरजानन्द जी के वचन-विद्युत् ने श्री दयानन्द जी की काया में क्रियात्मक जीवन की कल्पनातीत गति उत्पन्न कर दी। ये एक सुशिक्षित, निपुण सेनापति की भाँति अति साहस से उस क्षेत्र में उतर आए , जहाँ मत-मतान्तरों का घोर संग्राम हो रहा था, और जहाँ बड़े-बड़े वीरों ने भी स्वार्थ पाठ का ही सबसे अधिक माहात्म्य मान रक्खा था।''[2]

गुरु से विदा लेकर युवा संन्यासी दयानन्द सरस्वती आगरा पधारे। वे अभी रुद्राक्ष की माला पहनते थे। शैवमत की ओर कुछ झुकाव था। अधिकांश समय प्राणायाम, योगाभ्यास तथा समाधि-सिद्धि में लगाते थे। कभी-कभी अठारह घण्टे तक एक ही आसन पर बैठ ध्यानावस्थित होते थे। योगसाधना से अवकाश पाते तो पुस्तकें मंगवाकर पढ़ते थे। यहाँ रहते समय शास्त्रार्थ नहीं किए। वार्तालाप में भी भागवतपुराण के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ का खण्डन विशेष भाव से नहीं करते थे। कभी-कभी योगवासिष्ठ[3] तथा गीता की व्याख्या अथवा वेदादि सत्-शास्त्रों की महिमा का वर्णन कर दिया करते थे। पण्डित सुन्दरलाल आदि को अष्टाध्यायी तथा गीता पढ़ा देते थे। मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे। उनके साथ वार्तालाप में पण्डित चेतूलाल तथा कालिदास ने मूर्तिपूजा को अवैदिक स्वीकार किया था। आगरा रहते हुए 1864 ई. में दयानन्द सरस्वती ने ईश्वरोपासना हेतु सन्ध्या की पुस्तक लिखी थी[4] जिसमें परमेश्वर को ही सूर्यादि सब जगत् का रचनेहारा माना था। यद्यपि इसमें सूर्य को अर्घ्य देना तो लिखा था पर वे सूर्य को उपास्यदेव नहीं मानते थे। निःसन्देह शैवमत सम्बन्धी उनके विचार साधारण शैवों से कुछ भिन्न थे।

अभी विराट् शास्त्र-भण्डार का गुरु-प्रदत्त त्रिसूत्रीय सिद्धान्त के आधार पर परीक्षण करना तथा निष्कर्ष निकालना शेष था। इसीलिए सत्संगियों के अनुरोध पर पंचदशी की कथा आरम्भ तो कर दी परन्तु यह भी स्पष्ट कह दिया कि वे केवल आर्षग्रन्थों को प्रामाणिक मानते हैं, मनुष्यकृत पुस्तकों को नहीं। सत्संगियों का कहना था कि शंकर स्वामी के अनुयायी विद्यारण्य स्वामी की कृति साधारण मनुष्यकृत पुस्तक नहीं होनी चाहिए। कथा करते हुए जब यह प्रसंग

आया कि ईश्वर को भी कभी-कभी भ्रम हो जाता है, तो तुरन्त कथा बन्द कर दी। कहने लगे — ईश्वर-निन्दा करने वाला यह ग्रन्थ मनुष्यकृत है। मुझे गुरु का आदेश केवल ऋषिप्रणीत ग्रन्थ पढ़ने और सुनाने का है। इस तरह वेदान्ताभिमुखी साधु के दार्शनिक एवं धार्मिक विचार धीरे-धीरे सुनिश्चित रूप धारण कर रहे थे।

भावी कार्यक्रम की रूपरेखा बनानी अभी शेष थी। गुरुवर के आदेशानुसार सुधार कार्य अभी आरम्भ नहीं हुआ था। स्वामीजी निर्धारित लक्ष्य सिद्धि के लिए स्वयं को तैयार कर रहे थे। जब पण्डित विष्णुलाल मोहनलाल पण्ड्या ने इस विषय में आगरा में उनसे पूछा तो यही उत्तर दिया, 'मैं विचार कर रहा हूँ।' वे कुछ समय बाद स्वामीजी को मेरठ में फिर मिल गए। स्वामीजी ने दण्डीजी का कुशलक्षेम पूछा। उत्तर में पण्ड्याजी ने कहा कि दण्डीजी को बहुत खेद है कि उनके किसी शिष्य ने यहाँ तक कि आपने भी कुछ नहीं किया। तब स्वामीजी बोले — 'देखा जाएगा परमात्मा क्या करता है।' पुनः पूछने पर कहा — 'मैं अभी विचार और विचरण कर रहा हूँ।' इस विषय में जब भी कोई उनसे पूछता तो यही कहते कि जब तक मैं सम्पूर्ण वेदों की समीक्षा नहीं कर लूँगा, तब तक गुरुदेव के आदेश को कार्य में परिणत न कर सकूँगा।[5]

स्वामी दयानन्द ने लगभग पौने दो वर्ष आगरा रहकर गहन शास्त्राध्ययन एवं चिन्तन किया। यहीं वेदाध्ययन आरम्भ हुआ। पण्डित चेतूलाल तथा कालिदास ने वेद के कुछ पन्ने उन्हें लाकर दिए। स्वामीजी कहने लगे कि इनसे काम नहीं चलेगा। फिर पण्डित सुन्दरलाल द्वारा जयपुर के राज्य पुस्तकालय से ऋग्वेद मंगवाया गया। स्वामीजी स्वयं भी वेदों की खोज में आगरा से धौलपुर गए। वहाँ पन्द्रह दिन ठहरकर ग्वालियर चले गए। करौली प्रवास के समय भी वेदाध्ययन जारी रहा। परन्तु पादरी रॉबसन ने आत्मश्लाघापूर्ण यह दावा किया है कि स्वामी दयानन्द ने सर्वप्रथम उनके पास अजमेर में 1866 ई. के आरम्भ में ऋग्वेद की प्रति देखी थी।[6] यह सम्भव है कि मैक्समूलर सम्पादित ऋग्वेद तब ऋषि ने पहली बार देखा हो परन्तु यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि इससे पूर्व दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद का अध्ययन तो दूर, संहिता ही न देखी हो। पादरी रॉबसन स्वयं लिखते हैं — "वेदों में उनका (दयानन्द का) दृढ़ विश्वास था। वे कहते थे कि मैं नहीं मानता कि वेदों में एक भी भ्रान्तिमूलक बात है और यदि तुम मुझे कोई ऐसी बात दिखा भी दोगे

तो मैं यही कहूँगा कि वह चालाक धूर्त की मिलाई हुई है।''[6] ऐसा विश्वास बिना वेदाध्ययन के सम्भव नहीं था।

इन दिनों शास्त्राध्ययन करते समय जो शंकाएँ उत्पन्न होतीं थीं, उनका समाधान स्वामीजी गुरुवर दण्डीजी से पत्र-व्यवहार द्वारा या स्वयं मिलकर कर लेते थे। अभी गुरुवर के मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। आगरा की मथुरा से दूरी केवल पचपन किलोमीटर के लगभग है। शायद इसीलिए आगरा चुना था। वे स्वयं लिखते हैं — ''फिर आगरा नगर में दो वर्ष स्थिति किई। यहां ऋषि मुनियों के सनातन पुस्तक और नवीन पुस्तक भी बहुत मिले। उनको विचारा। फिर ग्वालेर में स्थिति किई। वहां भी जो-जो पुस्तक मिला उनका विचार किया। ऐसे ही देश देशान्तर में भ्रमण किया। जहां-जहां जो-जो पुस्तक मिला उनका विचार किया। जहां-जहां मुझ्झ को शंका रह जाती थी, उनका स्वामीजी से उत्तर यथावत् पाया। फिर पुस्तकों को देख एकान्त में जाके विचार किया। अपने हृदय में शंका और समाधान किये।''[7]

इस तैयारी के साथ स्वामी दयानन्द सरस्वती कार्यक्षेत्र में कूद गए। वे सर्वप्रथम 24 जनवरी, 1865 को ग्वालियर पहुँचे। वहाँ महाराजा जयाजीराव सिन्धिया द्वारा आयोजित एक सौ आठ भागवत पाठ का आरम्भ 4 फरवरी से होना था। इस आयोजन में अनेक पण्डित आमन्त्रित थे। स्वामी जी को भागवतपुराण पर शास्त्रार्थ करने का इससे अच्छा अवसर नहीं मिल सकता था परन्तु पण्डित मण्डली उनके साथ शास्त्रार्थ के लिए उद्यत न हुई। पण्डितों ने राजा को समझाया कि इस तरह बड़ा कोलाहल हो जाएगा। महाराजा सिन्धिया ने पण्डित विष्णु दीक्षित को स्वामीजी के पास भागवत बचवाने का माहात्म्य पूछने के लिए भेजा। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि सिवाय दु:ख और क्लेश के और कोई फल न होगा, चाहे करवा कर देख लो।[8] यह सुनकर महाराजा बहुत खिन्न हुए।

ग्वालियर से जयपुर जाते समय स्वामी दयानन्द करौली तथा खुशहालगढ़ (वर्तमान नाम गंगापुर) रुके। वहाँ के पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने का साहस न बटोर सके। जयपुर की पण्डित मण्डली से भी उनके प्रश्नों का उत्तर न बन पाया। मैथिल पण्डित राजीवलोचन ओझा ने यह कह तो दिया कि महाभाष्य की व्याकरण में गणना नहीं है परन्तु ऐसा लिखकर देने का साहस न कर सके। यहाँ ओसवाल वैश्यों के गुरु जती जी उनके जैनमत-विषयक किसी प्रश्न का

उत्तर न दे पाए। जयपुर में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में घोर संग्राम छिड़ा हुआ था। दोनों पक्षों के बड़े-बड़े विद्वान् बुलाए गए थे। स्वामीजी ने भी शैवमत की स्थापना की। वे स्वयं लिखते हैं, "वहाँ मैंने प्रथम वैष्णवमत का खण्डन करके शैवमत की स्थापना की। जयपुर के महाराजा रामसिंह ने भी शैवमत ग्रहण किया। इससे शैवमत का इतना विस्तार हुआ कि सहस्त्रों रुद्राक्ष मालाएं मैंने हाथ से दीं। वहाँ शैवमत इतना दृढ़ हुआ कि हाथी घोड़े आदि सबके गलों में भी रुद्राक्ष की मालाएँ पड़ गईं।"[9]

जयपुर में स्वामी जी के शास्त्रार्थों का ऐसा सिक्का बैठा कि महाराजा रामसिंह ने स्वामी जी को अपने दरबार में सम्मानित किया। महाराजा ने उन्हें अपनी दाईं ओर बैठाया और एक विख्यात उस्ताद खाँ साहब का संगीत हुआ। सभी ने खूब दाद दी पर स्वामी जी निश्चल बैठे रहे। उस्ताद के पूछने पर स्वामी जी ने कहा "अच्छा गाते हो परन्तु यह जो राग तुम ने गाया (राग का नाम लेकर), उसके अमुक स्थान पर अवरोह में जो स्वर जोड़ा है, वह कंठ से नहीं उदर से निकलना चाहिए। इस दोष से राग कुछ मार खा गया।" यह सुनकर खाँ साहब स्तम्भित रह गए। स्वामीजी के चरणों में सिर नवाकर कहा- "महात्मन्! मुझे खटकता अवश्य था, परन्तु किससे पूछता। मेरे गुरु जी का तो वर्षों पूर्व स्वर्गवास हो गया, शेष जो कलाकार हैं वे मुझ से सीखने वालों में हैं। उनमें यह योग्यता कहाँ! आज स्वामी महात्मा के दर्शन क्या हुए खुदा का मुझ पर फज़्ल हो गया।" महाराजा रामसिंह और सभी दरबारी चकित थे कि संगीत का भी स्वामी जी को इतना श्रेष्ठ ज्ञान है।[10]

शैव-वैष्णव संघर्ष में राजा रामसिंह का कुछ राजनीतिक उद्देश्य भी था। वे इस बात से तंग थे कि वैष्णव मन्दिरों में घुसे अपराधियों को राज्य-कर्मचारी पकड़ नहीं सकते थे। मन्दिर दुराचार के अड्डे बन गए थे। इन मतवादियों से खिन्नता के कारण ही महाराजा ने आगरा दरबार के समय स्वामी विरजानन्द दण्डी के साथ भेंट में यह इच्छा प्रकट की थी कि उन्हें इतना शास्त्र-ज्ञान करवा दिया जाए कि वे विभिन्न मत-मतान्तरों को समझ सकें। महाराजा रामसिंह दण्डीजी से धर्म विषयक प्रश्न प्रायः पूछते रहते थे। सम्भवतः गुरुवर विरजानन्द दण्डी के आदेश पर ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जयपुर में वैष्णव मत का खण्डन किया था।

स्वामीजी ने अचरौल के ठाकुरों से मांस-मदिरा का सेवन[11] और मूर्तिपूजा

छुड़वाकर उन्हें यज्ञोपवीत दिया तथा **विश्वानि देव** मन्त्र का उपदेश किया। किशनगढ़ के वल्लभ सम्प्रदायी विट्ठलदास तथा देवीदत्त आदि पण्डितों से रेखा, तिलक तथा विट्ठल आदि शब्दों पर स्वामीजी के आक्षेपों का कोई उत्तर न बन पाया।

स्वामी दयानन्द ने पुष्कर पहुँचकर मूर्तिपूजा, वैष्णवमत और रामानुज सम्प्रदाय का खण्डन आरम्भ कर दिया। यहाँ शास्त्रालाप में उन्होंने वेंकट शास्त्री को निरुत्तर किया। उनके अघोरी गुरु ने भी स्वामीजी के पक्ष की सत्यता को स्वीकार किया। स्वामीजी शिव तथा विष्णु की पूजा छुड़वाकर अब केवल एक ईश्वर की उपासना का उपदेश करते थे। जब ब्रह्मा के मन्दिर के पुजारी शिवदयालु ने पूछा कि ईश्वर के किस नाम का जप किया जाए, तो उत्तर दिया — सच्चिदानन्द का। पण्डित राजाराम के पूछने पर बताया कि शिव कल्याण करने वाले का नाम है। उसी निराकार परमात्मा को मानता हूँ, पार्वती के पति शिव को नहीं।

स्वामी जी ने अजमेर पधारकर कई पण्डितों, मौलवियों, रामस्नेहियों एवं पादरियों से शास्त्रार्थ किए। मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ के लिए तो उन्होंने विज्ञापन ही छपवा दिया था। यहाँ पहली बार शैव विचारधारा की आलोचना की।[9] उन्हें लगा कि शैव भी वैष्णवों की तरह संकुचित हैं।

पादरी ग्रे, रॉबसन[12] तथा शूलब्रेड से ईश्वर, जीव, सृष्टिक्रम, वेद और ईसा पर शास्त्रालाप हुआ। ईसा का पुनर्जीवित होना पादरी वेद से सिद्ध न कर पाए। स्वामीजी के आक्षेपों से चिढ़कर पादरी शूलब्रेड ने कहा कि ऐसी बातों के कारण उन्हें जेल जाना पड़ सकता है। निर्भीक दयानन्द ने मुस्कराकर उत्तर दिया कि कारावास के भय से सत्य नहीं छोड़ा जा सकता। पादरी रॉबसन स्वामीजी की योग्यता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने लिखा — "हमने सारी आयु में संस्कृत का ऐसा विद्वान् नहीं देखा। ऐसे मनुष्य संसार में अप्राप्य हैं। जो इन्हें मिलेगा उसे अत्यन्त लाभ होगा।" अजमेर में स्वामीजी ने कर्नल ब्रुक से मिलकर गो-हत्या बन्द करवाने का अनुरोध भी किया।

अजमेर से लौटते हुए स्वामीजी कार्तिक बदी 9, सम्वत् 1923 (1 नवम्बर, 1866) को अगरा पधारे। यहाँ उन्होंने संस्कृत में सात पृष्ठ की भागवत-खण्डनम् पुस्तिका प्रकाशित की[13] और इसे लॉर्ड लॉरेंस द्वारा आयोजित आगरा दरबार में हजारों की संख्या में बांटा। यह पुस्तिका स्वामी दयानन्द

सरस्वती का उपलब्ध सर्वप्रथम लेख है। उन्होंने भागवत-खण्डनम् के अन्त में विभूति लगाने, रुद्राक्ष धारण करने, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाने और शिवलिंग पूजा करने का निषेध लिखा है[14क] परन्तु अभी शाक्त सम्प्रदाय के देवीभागवत पुराण को व्यासकृत श्रीमद्भागवत मानते हैं, शैवमत के विरुद्ध विष्णु पुराण को उद्धृत करते हैं और हरिवंश पुराण को पठनीय पुस्तक-सूची में शामिल करते हैं।[14ख] अत: पौराणिक साहित्य के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय अभी शेष था। वे स्वगुरु प्रदत्त त्रिसूत्रीय सिद्धान्तानुसार पुस्तक की विषय-वस्तु के आधार पर आर्ष-अनार्ष का निर्णय कर रहे थे।

तदनन्तर मार्गशीर्ष 1923 वि. में स्वामीजी मथुरा में गुरु विरजानन्द दण्डी की सेवा में उपस्थित हुए। दो अशर्फ़ी और एक मलमल का थान भेंट किया। स्वलिखित पुस्तिका पढ़कर सुनाई। गुरुजी से मिलकर अपनी शंकाओं और सन्देहों की निवृत्ति करवाई। गुरुवर का भी अपने प्रियतम शिष्य को विभिन्न मतमतान्तरों तथा वैयाकरणों के विरुद्ध मिली सफलता के सुखद समाचारों से प्रसन्न होना सहज स्वाभाविक था।

गुरु-कुटिया छोड़ने के पश्चात् वे अब तक मथुरा, आगरा, ग्वालियर तथा अजमेर के मध्य घूमते रहे। इस प्रकार वे अपने गुरु से तीन सौ किलोमीटर से कभी दूर नहीं गए। लगभग चार वर्ष की इस अवधि में दयानन्द सरस्वती के चिन्तन में भारी परिवर्तन हुआ। एकान्त में साधना करने वाला संन्यासी अब लोक-उपदेशक तथा शिक्षक है। उसमें अपने चिन्तन की सत्यता, उसे अन्य लोगों को समझाने तथा मनवाने की क्षमता एवं विश्वास है। वह मनुस्मृति-वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था को मानता है। योग सिखाता है। अष्टाध्यायी आदि ऋषि-प्रणीत व्याकरण-ग्रन्थ पढ़ाता है। कर्मकाण्ड के विषय समझाता है। क्या पढ़ना चाहिए, क्या नहीं पढ़ना चाहिये —यह ज्ञान करवाता है। विभिन्न मतवादियों से शास्त्रार्थ करता है। अवतार, कण्ठी, माला, तिलक छाप तथा शंखचक्रादि को तपाकर शरीर जलाने का विरोध करता है। भागवत को भडुआ पुराण, मन्दिरों को अड्डा और माला को गले में काष्ठ का भार बतलाता है। गंगा स्नान, एकादशी व्रत आदि से मुक्ति मिलने का खण्डन करता है। बाल्यावस्था में मूर्तिपूजा के प्रति हुई अश्रद्धा समय के साथ तीव्रतर हो गई है। अब वह मूर्तिपूजा का घोर विरोध करता है। पैतृक संस्कारों के वशीभूत अथवा मथुरा के दम घोटू वैष्णव वातावरण से खिन्न होकर कुछ समय शैवमत का पक्षपोषण

करने वाले दयानन्द के लिए अब शिव ईश्वर के अनेक नामों में से केवल एक नाम है। वह शिव की कृत्रिम मूर्ति का विरोधी है। इसीलिए महारुद्र मोटेश्वर महादेव के मन्दिर का प्रसाद भी ग्रहण नहीं करता। वह महीनों शिव मन्दिरों में ठहरा है परन्तु न कभी शिवलिंग पर जल चढ़ाया, न मस्तक नवाया और न ही शैवमत का विशिष्ट चिह्न त्रिपुण्ड्र धारण किया। एक बार भी मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं किया। वह चार वेद, चार उपवेद, छह वेदांग, महाभारत तथा वाल्मीकि रामायण को ही मानता है। सन्ध्या-गायत्री का उपदेश करता है। मनुस्मृति, गीता, बृहदारण्यक तथा छान्दोग्योपनिषत् आदि बांचता है। वह सत्यान्वेषी है। बिना पूर्वाग्रह के उसे जो सत्य प्रतीत होता है, उसे स्वीकार कर लेता है। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में वेद उसकी कसौटी है। गुरु-चरणों में प्राप्त व्याकरण-विद्या तथा समाधिस्थ अनुभव वेद के रहस्य समझने में उसके दो सशक्त माध्यम हैं।

स्वामीजी की गुरु दण्डी स्वामी से यह अन्तिम भेंट थी। वे कुछ समय दण्डीजी की सेवा में रहे। फिर उनसे अनुमति एवं आशीर्वाद लेकर धर्मप्रचारार्थ हरिद्वार में होने वाले कुम्भ के मेले के लिए प्रस्थान किया। वहाँ 7 मार्च, 1867 को पहुँचकर हरिद्वार से ऋषिकेश जाने वाले मुख्य मार्ग पर सप्तसरोवर पर पाखण्ड-मर्दन पताका[15] गाड़ दी। धरती और आकाश के बीच एक अकेले साधु ने अपने प्रभु के सहारे भारतभर के साधुओं, संन्यासियों, पण्डितों, पुजारियों के मध्य पौराणिकता के गढ़ हरिद्वार में मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भागवत, तीर्थ, तिलक, छाप, कण्ठी आदि का खण्डन और स्वलिखित भागवत-खण्डनम् पुस्तिका का बांटना आरम्भ कर दिया। वे उन सभी मान्यताओं का खण्डन कर रहे थे, जिनमें श्रद्धा के कारण लाखों भक्त हरिद्वार आए थे। भव्य आकृति, ब्रह्मचर्य का तेज तथा सरस मधुर वाणी का दर्शकों एवं श्रोताओं पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।[16] कुछ उनके केवल दर्शन करते, तो कुछ हैरान होते। कुछ सहमत होते, तो कुछ कुवाक्य कहकर निकल जाते। काशी के प्रसिद्ध पण्डित विशुद्धानन्द भी आए और यजुर्वेद (31.11) के मन्त्र के प्रचलित अर्थ करने लगे। स्वामीजी ने शुद्ध अर्थ करते हुए समझाया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र क्रमशः सिर, भुजा, पेट तथा पाँव के समान हैं, न कि इनसे उत्पन्न हुए हैं। दादूपन्थी स्वामी महानन्द तो सदा के लिए अनुयायी बन गए। स्वामीजी ने एक निर्मले सन्त को समझाया कि चित्सुखी अनार्षग्रन्थ होने से

प्रामाणिक नहीं है।

यद्यपि स्वामीजी के प्रचार से हरिद्वार में भूकम्प-सा आ गया था, अनेक संन्यासी एवं पण्डित उनके समक्ष निरुत्तर थे परन्तु वे इस कार्य में सहयोगी बनने को तैयार नहीं थे। "उनका वेष था, नाम था, आकृति थी, रंग था परन्तु उस सारे मेले में वह आत्मा नहीं था जो अनुभव करता, जो सत्य परायण होकर स्वामीजी का संगी-साथी बन जाता, उस समय सचमुच महाराज ने अपने आप को अकेला महसूस किया।"[17] तब स्वामीजी ने और अधिक तपस्या करने के लिए सर्वस्व-त्याग का निर्णय लिया। जो पुस्तक, पात्र, वस्त्र एवं धनादि सामग्री पास थी, सब बाँट दी। महाभाष्य, पैंतीस रुपये और एक मलमल का थान पण्डित दयाराम के हाथ दण्डीजी की सेवा में भेज दिए।[18] कमण्डल तक भी अपने पास न रखा। केवल एक कौपीन (लंगोटी) पहने हुए थे। भावी कार्यक्रम सुनिश्चित करने हेतु कुछ समय के लिए मौन धारण किया परन्तु निज पर्णकुटी के द्वार पर **भागवतं निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्**[19] सुनकर मौन तोड़ तुरन्त उसका खण्डन आरम्भ कर दिया। भागवत पुराण को वेद का सार कहना उनसे सहन न हुआ। फिर धर्म प्रचारार्थ गंगा तट पर विचरण और संस्कृत भाषण का निर्णय लिया।

स्वामीजी अगले दो-अढ़ाई वर्ष ऋषिकेश, कनखल, लंढोरा, शुक्रताल, मीरांपुर, मुहम्मदपुर, परीक्षितगढ़, गढ़मुक्तेश्वर, कर्णवास, फर्रुखाबाद, अनूपशहर, चासी, ताहिरपुर, रामघाट, अहार, बेलौन, कम्पिल, गढ़ियाघाट, सोरों, अम्बागढ़, शहबाजपुर आदि स्थानों पर भ्रमण, प्रवास एवं सरल संस्कृत में सम्वाद तथा धर्मप्रचार करते रहे। धर्मप्रचार के लिए यह उपयुक्त क्षेत्र था। यहाँ ब्राह्मण बाहुल्यता भी थी और मेलों में विभिन्न स्थानों से भारी संख्या में आए यात्रियों से सम्पर्क सम्भव था। फर्रुखाबाद के अतिरिक्त बाकी सभी कस्बे गाँव जैसे थे पर इन पौराणिक तीर्थों पर प्रायः मेले लगते रहते थे। जहाँ पुराने मन्दिरों की नगरी आहर में प्रति वर्ष चार मेले लगते थे, वहाँ अनूपशहर में प्रति मास मेला भरता था। शुक्रताल, गढ़मुक्तेश्वर तथा रामघाट में गंगा-स्नान के लिए दूर-दूर से यात्री आते थे। फर्रुखाबाद साध मन्दिर के लिए प्रसिद्ध था। रामेश्वरनाथ के भग्न मन्दिर एवं घाटों की नगरी दक्षिण पांचाल की राजधानी कम्पिल का महाभारत में उल्लेख है। कर्णवास भले ही छोटा-सा ग्राम था परन्तु मेले में वहाँ उस समय भी एक लाख यात्री आते थे। यही वह स्थान है जहाँ ऋषि दयानन्द

सर्वाधिक दस बार गए। वे 1867 ई. में छह बार यहाँ पधारे थे। स्वामी विरजानन्द दण्डी ने इसी क्षेत्र में, विशेषकर सोरों में, काफी समय व्यतीत किया था। स्वामी दयानन्द का दण्डीजी का परम शिष्य होना इस क्षेत्र के लोगों के लिए विशेष महत्त्व रखता था। साथ ही इधर प्रवास करते हुए दण्डीजी से सम्पर्क सहज सम्भव था।

समूचा समाज श्रद्धावश ब्राह्मण वर्ग का अन्धानुकरण कर रहा था। अत: स्वामी दयानन्द ने द्विजों को जागृत करने पर विशेष ध्यान दिया। इसीलिए वे गायत्री, सन्ध्या, अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेवयज्ञ तथा आचरण की पवित्रता पर बल देते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों को यज्ञोपवीत धारण करवाते थे परन्तु आचरणहीन व्यक्तियों का यज्ञोपवीत उतरवाने के पक्षधर थे। छूआछूत का विरोध करते थे। अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति पढ़ने का उपदेश करते थे। व्याकरण पढ़ने के इच्छुकों को गुरुवर दण्डीजी से विद्या ग्रहण की सलाह देते थे।[20] गंगा और सूर्य को जड़ पदार्थ मानते थे। मृतक-श्राद्ध[21], अवतारवाद तथा रासलीला के विरुद्ध थे। जीवित पितरों के श्राद्ध के पक्षधर थे। एक निराकार ईश्वर की उपासना सिखाते थे। इसीलिए धुनिया को ओ३म् के जप की शिक्षा दी। अब अद्वैतवाद में उनकी आस्था समाप्त हो गई थी और जीव ब्रह्म का पृथक्त्व मानते थे। नवीन वेदान्त, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क तथा मध्व सम्प्रदायों का खण्डन करते थे। उनकी सभी पुराणों में आस्था समाप्त हो चुकी थी। पुराणों की बातें सुनकर कहते थे — **गप्पाष्टकम् , मनुष्याणां कोलाहल:** ।[22] आठ गप्पों का खण्डन करते थे। बुरे कर्म छोड़ने तथा शुभ कर्म करने पर बल देते थे। शुभ अशुभ किए कर्म का फल भोगना निश्चित मानते थे। जन्मपत्री को व्यर्थ बताते थे। उनका कथन था कि **जन्मपत्रं किमर्थम् कर्मपत्रं श्रेष्ठम्** ।[23]

इस क्षेत्र के द्विजों के वैदिक संस्कार छूटे हुए थे। सोरों के ब्राह्मण भी प्राय: यज्ञोपवीत विहीन थे। कर्णवास के क्षत्रियों की भी ऐसी ही स्थिति थी। पण्डित टीकाराम ने कार्तिक 1923 वि. (नवम्बर 1866) में कर्णवास के दो ठाकुरों शेरसिंह व धर्मसिंह को गायत्री पढ़ाई तथा सन्ध्या[24] का उपदेश दिया। इस पर ब्राह्मणों ने पंचायत बुलाकर लिखित व्यवस्था दी कि ठाकुरों की राक्षस संज्ञा है। उन्हें गायत्री उपदेश देना शास्त्र और धर्म के सर्वथा विरुद्ध है। अत: जब तक टीकाराम प्रायश्चित्त न करा लें, उन्हें जाति से बाहर रखा जाए और जब तक ठाकुर ब्रह्मगायत्री का त्याग न करें, कोई ब्राह्मण उनके घर भोजन न

करे।[25क] उसी कर्णवास में स्वामी दयानन्द ने घोषणा की कि सभी द्विजों के लिए एक ही गायत्री है तथा वेद सबके लिए है। स्वामी जी ने अनूपशहर, डिबाई, दानपुर, अहमदगढ़, खैर, बामौती, विलोनी, रामघाट आदि के लगभग साठ ब्राह्मण बुलाकर गायत्री पाठ तथा हवन करवाया और यज्ञ में यज्ञोपवीत के बाद गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया। यह उनकी महान् विजय थी। स्वामीजी ने धर्मपुर के मुसलमान रईस तथा कर्णवास के बैसो क्षत्रिय वृद्धा अम्मा हंसा कुंवर को गायत्री मन्त्र की दीक्षा दी।[25ख] वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने स्त्री तथा मुसलमानों को भी गायत्री मन्त्र सिखाया। स्वामी विरजानन्द ने स्वामी दयानन्द को यही सिद्धान्त दिया था कि कैसा भी पतित हो यज्ञयागादि प्रायश्चित से शुद्ध हो सकता है।

स्वामीजी के धर्मप्रचार का सर्वत्र पर्याप्त प्रभाव पड़ा। खंदोई ग्राम के जाटों को चक्रांकित बनाने के लिए प्रयत्नशील पण्डित नन्दराम उन्हें देखकर सामने से भाग गया। पण्डित अम्बादत्त पर्वती ने शास्त्रार्थ के पश्चात् मूर्तिपूजा को अवैदिक स्वीकार किया। लगभग चार हजार ब्राह्मणों की उपस्थिति में पण्डित हीरावल्लभ शास्त्री ने छह दिन शास्त्रार्थ करने के पश्चात् परास्त होकर मूर्तियाँ गंगा में प्रवाहित कर दीं।[25ग] घबराहट के कारण स्वामी कृष्णानन्द के मुँह में झाग ही आ गई।

परम तपस्वी दयानन्द प्रायः रेत का बिस्तर तथा ईंटों का तकिया लगाते थे। कई बार वृक्ष के नीचे रात काट देते, कई बार किसी झोंपड़ी में। शीतकाल में भी कोई वस्त्र न ओढ़ते थे। रात को केवल पुआल डाल लेते थे। किसी से कुछ मांगते नहीं थे, भले ही कई बार निरन्न रहे। बाबा रामदास ने कहा भी कि भागवतपुराण का खण्डन करोगे तो कोई रोटी भी न पूछेगा; परन्तु उन्होंने इसकी चिन्ता न की। कई बार जान लेवा हमले हुए। उन्हें नास्तिक, देवनिन्दक तथा धूर्त तक कहा गया। सत्पुरुष उन्हें देवकोटि के तपस्वी महापुरुष और धर्मदिवाकर मानते थे। पण्डित अम्बादत्त जैसों ने स्वामीजी को शास्त्रार्थ-समर में अद्वितीय पाकर उनसे निवेदन किया कि यदि वे मूर्तिपूजा और पुराणों का खण्डन छोड़ देवें तो समूचा ब्राह्मण समाज उन्हें जगत् गुरु बृहस्पति की पदवी से अलंकृत करेगा[25घ] परन्तु यश-अपयश, मान-अपमान, सुख-दुःख की चिन्ता किए बिना वे ईश्वर-विश्वास के सहारे दण्डीजी के आदेशानुसार समाज सुधार में लगे रहे।

सोरों में कौमुदी के प्रसिद्ध विद्वान् एवं अपने गुरु भाई बदरिया ग्राम के भागवतपाठी पण्डित अंगदराम शास्त्री से चैत्र 1925 वि. (अप्रैल 1868) में स्वामीजी का मूर्तिपूजा और भागवत पर वार्तालाप हुआ। अंगदराम ने स्वामीजी से प्रभावित होकर शालिग्राम को गंगा में प्रवाहित कर दिया और भविष्य में भागवत पुराण की कथा न करने का निर्णय लिया।[26] संयोग से स्वामी विरजानन्द दण्डी के एक अन्य शिष्य पण्डित युगलकिशोर भी उन दिनों सोरों आए हुए थे। अंगदराम ने स्वामी दयानन्द से कहा — महाराज! अन्य लोगों को तो कण्ठी, माला, तिलकादि बाह्य-चिह्नों की व्यर्थता समझाते हो परन्तु अपने इस सहपाठी को मूर्तिपूजा आदि के विषय में कुछ नहीं कहते। स्वामी जी बोले — शास्त्री जी! ये मथुरावासी हैं। इनकी जीविका इन्हीं बातों पर चल रही है। यह सुनकर युगलकिशोर बहुत कुपित हुए और मथुरा आकर दण्डीजी से शिकायत की कि दयानन्द सोरों में अनर्थ कर रहा है। वह शालिग्राम की पूजा, कण्ठी, तिलकादि सभी धार्मिक मान्यताओं एवं चिह्नों का खण्डन करता है। दण्डीजी प्रसन्न होकर कहने लगे — वत्स! दयानन्द ठीक ही तो कहता है। तिलकादि का किसी आर्षग्रन्थ में विधान नहीं है। शालिग्राम क्या होता है? **शालीनां यो ग्रामः सः शालिग्रामः।**[27] दण्डीजी द्वारा दयानन्द का समर्थन किए जाने पर पण्डित युगलकिशोर ने भी कण्ठी तोड़कर फेंक दी।

इस तरह अब तक स्वामी दयानन्द के विचारों में पर्याप्त परिपक्वता आ चुकी थी। वे प्रायः दण्डीजी से विचार-विमर्श एवं शंका समाधान करते रहते थे। इसलिए इन दिनों स्वामीजी का चिन्तन पूर्णतया दण्डीजी के दर्शन के अनुरूप था। अतः मानना चाहिये कि इस अवधि में विभिन्न विषयों पर स्वामी दयानन्द के जो विचार बने, वही दण्डीजी के विचार थे।

स्वामी दयानन्द को कार्यक्षेत्र में आशातीत सफलता मिल रही थी। अंगदराम के परास्त होने से मूर्ति-पूजकों में खलबली मच गई थी। रंगाचार्य ने सोरों आना ही बन्द कर दिया था। आम धारणा थी कि बात दयानन्द की ठीक है पर संसार की रीति के विरुद्ध चलना उचित नहीं है। दण्डी जी अपने मानसपुत्र को जैसा दृढ़ संकल्पी, सिद्धान्तवादी, कर्मठ, तार्किक, वेदवेत्ता एवं निःस्पृह देखना चाहते थे, वह उससे बढ़कर निकला। अपने प्रिय शिष्य का यही यशोगान वे सुनना चाहते थे। बस, उनकी तपस्या सफल हुई और पूरी हुई उनकी प्रतीक्षा।

वयोवृद्ध दण्डीजी उदरशूल से पीड़ित थे। वे स्वयं अच्छे वैद्य थे और अपनी चिकित्सा करते रहते थे। वे प्राय: कहा करते थे कि जिस दिन वे अपनी चिकित्सा स्वयं नहीं कर पाएंगे, उस दिन उनकी मृत्यु हो जाएगी। फिर भी सेठ गुरुसहायमल के कुलवैद्य दीनबन्धु तथा वैराग्यपुरा के पण्डित रामरत्न उनकी सेवा के लिए तत्पर रहते थे। कहते हैं कि देहावसान से दो वर्ष पूर्व दण्डीजी ने अपने शिष्यों को कह दिया था कि वे अमुक दिन उदरशूल से चल बसेंगे। कुछ सेठ प्रति वर्ष दर्शनार्थ आया करते थे, मृत्यु से कुछ दिन पूर्व उनमें से भी किसी-किसी को संकेत कर दिया था कि अब पुन: न आवें। मृत्यु से दो मास पूर्व अपनी सभी पुस्तकें, वस्त्र, तीन सौ रुपये तथा अन्य सामग्री का पण्डित युगलकिशोर के नाम उत्तराधिकार-पत्र लिखकर रजिस्ट्री करवा दी थी।

जीवनभर संघर्षरत इस पुण्यात्मा के इस लोक से जाने की तैयारी पूर्ण हो चुकी थी। बस, कुछ दिन रोगग्रस्त रहे। फिर इस भौतिक देह-त्याग का दिन उपस्थित हुआ। उन्होंने सेवारत अपने शिष्यों को उन्हें उस स्थान पर बैठाने को कहा जहाँ बैठकर वे नित्य पढ़ाया करते थे। वनमाली आदि शिष्य रोने लगे। दण्डीजी समझाते हुए बोले — रोते क्यों हो? शिष्यों ने कहा — हमें अब अष्टाध्यायी कौन पढ़ाएगा? तब दण्डीजी ने अष्टाध्यायी मंगवाई और उसे हाथ में लेकर कहने लगे — मैं इसमें प्रविष्ट होता हूँ। जो कुछ पूछना हो, इससे पूछ लेना। कुछ क्षण के पश्चात् उनका एक हाथ झुक गया और वे आश्विन बदी 13, 1925 वि. (तदनुसार 14 सितम्बर, 1868) सोमवार को जीवनलीला पूर्ण कर इस संसार से चल दिए।[28] जीवन भर अध्यापक रहे दण्डी स्वामी ने अध्यापक की ही स्थिति में प्राण त्याग दिए। आलोक एवं उष्मा देने वाला सूर्य अस्त हो गया। एक गरिमा चली गई।

जब स्वामी दयानन्द सरस्वती के कासगंजवासी भक्तों को दण्डीजी के महाप्रयाण का दु:खद समाचार मिला, तो उन्होंने स्वामीजी को ढूंढना शुरू किया। पता चला कि वे निकट ही शहबाजपुर में धर्मप्रचार कर रहे हैं। पण्डित चैनसिंह आदि तीन भद्र पुरुषों ने वहाँ जाकर उन्हें यह समाचार दिया। गुरु-भक्त शिष्य का मुख-मण्डल तुरन्त मुरझा गया। उनके लिए यह व्यक्तिगत क्षति थी। परमपिता के अतिरिक्त वही उनके शुभेच्छु थे। वे भी न रहे। अनायास उनके मुख से निकला — **आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।** उस

दिन दयानन्द ने जल तक ग्रहण न किया।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. द्रष्टव्य: पृष्ठ 118-123

2. सत्यानन्द स्वामी, श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 54

3. तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में रचे बत्तीस सहस्र पदों के इस विशाल ग्रन्थ का अद्वैत वेदान्त ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें राम तथा वशिष्ठ के सम्वाद के रूप में वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

4. सेठ रूपलाल ने पन्द्रह सौ रुपये व्यय करके इसकी तीस हजार प्रतियाँ ज्वालाप्रकाश प्रेस, आगरा से छपवाई थीं। यह उनकी सर्वप्रथम रचना थी। अब कोई प्रति उपलब्ध नहीं है।

5. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द-चरित, पृष्ठ 96; ऋषि दयानन्द ने आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों का निर्णय करने के लिए कितनी पुस्तकें पढ़ीं, इसका अनुमान उन द्वारा कार्तिक शुदि 2, सम्वत् 1934 (6 नवम्बर, 1877) में लिखी भ्राँति-निवारण की निम्न पंक्तियों से होता है — ''मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेके पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूं।''

6. John Robson, Hinduism and its Relations to Christianity, p. 219

7. भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग, पृष्ठ 36

8. संयोगवश पहली रात महारानी का पंच मासिक गर्भ गिर गया। कुछ दिन पश्चात् नगर में विशूचिका फैल गई और फिर छोटे राजकुमार का देहान्त हो गया।

9. भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वरचित वा कथित जन्म-चरित्र, पृष्ठ 54; जयपुर में शैव-वैष्णव संघर्ष 1864-1870 ई. तक चलता रहा। तब कितने ही वैष्णव शैव बन गए थे या नगर छोड़ गए थे। स्वामी दयानन्द ने दण्डीजी के साथ अन्तिम भेंट के पश्चात् फिर कभी शैवमत का समर्थन नहीं किया।

10. आचार्य चतुरसेन शास्त्री की स्मृति में प्रकाशित 'सुगन्धित संस्मरण' में उनके अभिन्न मित्र एवं जयपुर में सहपाठी रहे कैप्टन सूर्यप्रताप का 'आर्यसमाज का एक अधिवेशन' शीर्षक से लिखा लेख इस ऐसे तथ्य को उजागर करता है जिसकी चर्चा महर्षि दयानन्द के किसी भी जीवनी लेखक ने इससे पूर्व नहीं की। **स्वामी जी साम गान के अतिरिक्त गायन विद्या से भी सुविज्ञ थे — ऐसा भी अन्यत्र लिखा नहीं मिलता। माना यह जाता है कि जयपुर में स्वामी जी की महाराजा रामसिंह से भेंट ही नहीं हो पाई थी।**

11. जार्डन्स के अनुसार सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के लिखे जाने तक दयानन्द सरस्वती ने मांसाहार का पूर्ण विरोध नहीं किया था (Dayananda Sarasvati, p.121)। परन्तु यह प्रसंग इस मान्यता को निराधार सिद्ध करता है। ऋषिवर ने अनेक बार मांसाहार का स्पष्ट निषेध किया है।

12. पण्डित लेखराम तथा स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने पादरी का नाम राबिन्सन लिखा है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, भवानीलाल भारतीय तथा हरविलास शारदा रॉबसन लिखते हैं।

13. भड़वा भागवत, वैष्णवमतखण्डन अथवा पाखण्डखण्डन इसी भागवतखण्डन पुस्तक

के अन्य नाम हैं। पण्डित लेखराम को पण्डित छगनलाल श्रीमाली से भड़वा भागवत की हस्तलिखित प्रति मिली थी, जिसके अन्त में सम्वत् 1923 दूसरा ज्येष्ठ बदी 9 (तदनुसार वृहस्पतिवार 7 जून, 1866) लिखा था। स्वामी दयानन्द ने यह सात पृष्ठ की भागवत-खण्डनम् पुस्तिका संस्कृत में अजमेर में लिखी थी, जो पण्डित ज्वालाप्रसाद भार्गव के प्रबन्ध में ज्वालाप्रकाश प्रेस, आगरा से सम्वत् 1923 वि. के अन्त अथवा 1924 वि. के आरम्भ में छपवाई गई थी। इसका रचनाकाल जॉर्डन्स ने 1864 ई. लिखा है (Dayanand Sarasvati, p. 345), जो सही नहीं है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने इसे सम्पादित कर हिन्दी अर्थसहित पहली बार 1971 ई. में प्रकाशित किया था।

14. दयानन्द सरस्वती, भागवत-खण्डनम् , (क) पृष्ठ 18, (ख) पृष्ठ 1, 18, 20

15. ऋषि दयानन्द ने पुणे प्रवचन में पाखण्डमर्दन पताका कहा है। पाखण्ड खण्डनी पताका शब्द कब तथा कैसे आरम्भ हुआ — यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

16. दयानन्द सरस्वती का एक-एक शब्द हृदय की गहराई से निकलता था। इसीलिए वे अद्‌भुत वक्ता थे। पण्डित मुकुन्ददेव ने अपने अनुभव से ठीक लिखा है — ''कुछ हो यहाँ (जहाँ) स्वामी जी वक्तृत्व करते वह देश उन्ही का हो जाता'' (द्रष्टव्य : दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 116)।

17. सत्यानन्द स्वामी, श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश, पृष्ठ 79

18. दयाराम से हरिद्वार का वृत्तान्त सुनकर प्रतीक्षारत दण्डी जी मौन हो गए।

19. पूरा श्लोक (भागवत 1.1.3) इस प्रकार है —

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं समालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

इसकी समीक्षा करते हुए भागवत-खण्डनम् में दयानन्द सरस्वती लिखते हैं —

''अत्र वेदनिन्दा कृता हि। 'पतितम्' इति वक्तव्ये, 'गलितम्' इत्यशुद्धम्।
एका षष्ठी, द्वे पञ्चम्यौ वाऽत्राशुद्धमेव। शृणुत इति वक्तव्ये 'पिबत' इत्यप्यशुद्धमेव।
अर्थात् - इस श्लोक में वेद की निन्दा की है। **पतितम्** ऐसा कहने के स्थान में **गलितम्** कहना अशुद्ध है। एक षष्ठी अथवा दो पंचमी का प्रयोग अशुद्ध है। **शृणुत** ऐसा कहने के स्थान में **पिबत** का प्रयोग भी अशुद्ध है।''

20. टीकाराम सनाढ्य स्वामी दयानन्द का शिष्य बनने के पश्चात् ही दण्डीजी से पढ़ने मथुरा गए थे। दण्डीजी के देहावसान के पश्चात् स्वामी दयानन्द को निजी संस्कृत पाठशालाएँ खोलनी पड़ीं।

21. मृतक-श्राद्ध वेदानुकूल नहीं है — यह विचार स्वामी दयानन्द ने दण्डीजी से मथुरा में अध्ययन के समय ही ग्रहण कर लिया था। अतः **जॉर्डन्स का यह मत कि 1875 ई. में सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण लिखते समय तक उन्होंने मृतक-श्राद्ध का पूर्णतया खण्डन नहीं किया था** (Dayanand Sarasvati, pp. 313-14 note 90), **तथ्यों के विपरीत एवं भ्रान्त है।**

22. स्वामीजी ने निम्नलिखित आठ गप्पों का खण्डन दण्डी जी के जीवनकाल में

भाद्रपद 3 अमावस्या सम्वत् 1925 वि. (तदनुसार 18 अगस्त, 1868) को कर्णवास में सूर्य ग्रहण के अवसर पर किया था —

(1) प्रथम गप्प अठारह पुराण व्यासकृत हैं, (2) मूर्तिपूजन, (3) शैव, शाक्त और रामानुज वैष्णव सम्प्रदाय, (4) तन्त्र-ग्रन्थ, वाममार्ग आदि, (5) मदिरा, भाँग इत्यादि मादक वस्तुओं का सेवन, (6) व्यभिचार, (7) चोरी करना, (8) असत्य भाषण, छल, कपट, अभिमान, कृतघ्नता इत्यादि। ये आठ गप्प अर्थात् बुराइयाँ हैं; इन्हें छोड़ना चाहिए। कुछ लेखकों ने सूर्यग्रहण की तिथि मार्घशीर्ष बदी 15, सम्वत् 1924 अथवा भाद्रपद बदी 20, सम्वत् 1925 लिखी हैं — दोनों गलत हैं।

23. अर्थात् जन्मपत्री किस लिए? कर्म ही श्रेष्ठ है।

24. यह सन्ध्या तीनों वर्णों के लिए समान थी। विरजानन्द दैवकरणि (गुरुकुल झज्जर) के पास सम्वत् 1858 वि. की एक हस्तलिखित सन्ध्या, सन्ध्या के दो तिथि-रहित हस्तलेख तथा एक वैश्यों की सन्ध्या उपलब्ध हैं। डॉ. राजेन्द्र विद्यालंकार ने ऋषि दयानन्द द्वारा निर्देशित सन्ध्या के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन किया है जो ऋषिवर के विचारों में गतिशीलता को समझने में सहायक है।

25. शेरसिंह, महर्षि दयानन्द का कर्णवास प्रवास, (क) पृष्ठ 14, (ख) पृष्ठ 16, 23, 52, (ग) पृष्ठ 24-35, (घ) पृष्ठ 15, 21, 47

26. पण्डित अंगदराम ने स्वामी दयानन्द के उपदेशों को श्लोकबद्ध किया था। एक श्लोक इस प्रकार था —

रुद्राक्ष-तुलसी-काष्ठमालातिलकधारणम्।
पाखण्डं विजानीयात् पाषाणादिकाऽर्चनम्॥

27. शाली वृक्ष का समूह या ग्राम अथवा चावलों का समूह।

28. यह सर्व सम्मत तिथि सर्वप्रथम पण्डित लेखराम ने लिखी थी। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने विरजानन्द-चरित के पृष्ठ 117 पर पाद टिप्पणी में सितम्बर या अक्तूबर 1868 (सम्वत् 1925 का आश्विन) लिखा है परन्तु पृष्ठ 8 पर पाद टिप्पणी में भूल से ''सम्वत् 1915 के आश्विन अथवा सन् 1838 का सितम्बर अथवा अक्तूबर'' लिखा गया अथवा छप गया। दण्डीजी के देहावसान पर उनके शिष्य उदयप्रकाश के ज्येष्ठ पुत्र नन्दकिशोरदेव ने अपने पिता को अमृतसर सूचित किया — **''इषुनयननवक्ष्माहायने वैक्रमार्के सुरनुतपितृपक्षे कामतिथ्यां मृगाङ्के सकलनिगमवेत्तादण्ड्युपाख्यः सुधीन्द्रो विदितविविधयोगब्रह्मविद्ब्रह्मलीनः।''** अर्थात् सम्वत् १९२५ विक्रमीय अश्विन कृष्ण १३ सोमवार को सकल वेदों के ज्ञाता, दण्डी उपाधि वाले, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, विविध योग के ज्ञाता, ब्रह्मज्ञाता ब्रह्म में लीन हो गए (दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 111)। दण्डी जी के लिए प्रयुक्त पाँचों विशेषण अर्थपूर्ण हैं। उन्हें मथुरा में दण्डी घाट पर समाधी दी गई थी।

शत-शत नमन

दो प्रज्ञाचक्षु विभूतियाँ इस देश में अमर रहेंगी। एक कृष्णभक्त ब्रजवासी सूरदास जिसने सूरसागर की रचना करके भक्ति की लहर चलाई, दूसरा प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द जिसका झुकाव आर्षग्रन्थों की ओर हुआ और जिसने ज्ञान की गंगा बहाकर समस्त धार्मिक जगत् एवं विद्वत्-समाज को आन्दोलित किया। इतिहास में यह एक विस्मयोत्पादक घटना है कि एक व्यक्ति नेत्रहीन है, उसने जीवन में किसी पुस्तक के दर्शन नहीं किए , कोई पुस्तक स्वयं खोलकर पढ़ी नहीं, फिर भी वह संस्कृत-व्याकरण तथा अन्य अनेक क्लिष्ट विषयों का अद्वितीय पण्डित है। नेत्रहीनता न उसके शास्त्र-ज्ञान प्राप्ति में बाधक हुई, न अध्यापन में। जो नेत्रहीन भले ही थे परन्तु ज्योतिष्मान् थे, उस आलोक-पुरुष को नमन।

जिस दुबले-पतले व्यक्ति के भीतर इस्पात का कुछ था चट्टान जैसा, जिसने हर विपदा को सुअवसर में परिवर्तित किया, प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी जिसका मार्ग अवरुद्ध न कर सकीं, उस अदम्य उत्साह की मूर्ति को नमन।

जिसका मस्तिष्क अद्भुत पुस्तकालय था, जिस की जिह्वा पर सरस्वती नृत्य करती थी, जिसके वैदुष्य के सामने कोई पण्डित ठहर न सका, जो श्रुतिधर था, जो प्रतिभाशाली कवि था, जो विद्यावारिधि था, जो प्रबल तार्किक एवं प्रतिवादी अकाट्य शास्त्रार्थी था, जो शास्त्र-समर का अजेय योद्धा था, उस शास्त्रतत्त्व-मर्मज्ञ प्रज्ञापुरुष को नमन।

जिसने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर ब्रह्म में विचरण किया, जिसने पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा पर पूर्ण विजय प्राप्त की, जिसका सभी हिन्दू , मुस्लिम, साधु , सन्त, फ़कीर आदर करते थे, जो सुख-दुःख, हानि-लाभ से ऊपर था, जो स्थितप्रज्ञ था, उस सत्य के पुजारी, अपनी प्रकृति के राजेश, धुन के धनी, विरक्त, योगी, निर्भीक, निःस्पृह संन्यासी को नमन।

जिस आचार्य ने सहस्रों वर्षों के पश्चात् वेद को स्वतः प्रमाण घोषित किया, जिसने प्रत्येक शास्त्र को वेद की कसौटी पर परखना चाहा, जिसने व्याकरण का प्रयोग वेदादि के लिए स्वीकार किया, जो व्याकरण पढ़ाते समय वेदादि से उदाहरण देने के कारण शंकर, रामानुज, वल्लभ तथा मध्व आदि मध्य युगीन आचार्यों से कहीं आगे था, जिसने आगे बढ़ने के लिए वेद की ओर पीछे मुड़ने का

निर्देश किया, जो नाविक चप्पू चलाते समय देखता पीछे था और नाव को बढ़ाता आगे था, जिस आचार्य प्रवर ने पहली बार सायण-भाष्य को अनार्ष कहा, जिसने विदेशी शासन में भी मन्त्रोच्चारण शुद्ध न करने वाले विदेशियों को वेदाध्ययन का अनधिकारी बताया, जिसने वेदार्थ समझने की सही कुंजी प्रदान की, उस साहसी महान् मनीषी वेदभक्त को नमन।

जब भट्टोजि दीक्षित के प्रयत्नस्वरूप सिद्धान्तकौमुदी के अतिरिक्त अन्य व्यारकण-ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन समाप्त हो गया था, जब अष्टाध्यायी का पठन-पाठन बन्द हो चुका था, जब अष्टाध्यायी के मर्म से शून्य पण्डित कहते थे कि न अष्टाध्यायी पढ़ने से व्याकरण आता है और न महाभाष्य की गणना व्याकरण-ग्रन्थों में होती है, जब कहीं-कहीं आधी-अधूरी अष्टाध्यायी के दर्शन-मात्र हो पाते थे, जिसने उस अन्धकारमय युग में अष्टाध्यायी का पुनः प्रचलन किया, जिस परिव्राट् ने वह महान् कार्य किया जो बड़े-बड़े सम्राट् न करवा सके, जिसके पाण्डित्य के कारण संस्कृत व्याकरण का काल-क्रम 'दण्डी पूर्व' और 'दण्डी बाद' के रूप में लिखा जा सकता है, अष्टाध्यायी का पुनरुद्धार करने वाले उस व्याकरण-सूर्य को, शब्दशास्त्र के ऋषि को, साक्षात् कृतधर्मा को नमन।

जिसने ऋषिप्रणीत ग्रन्थों पर बिना किसी नूतन तत्त्व के व्यर्थ टीका लिखकर मूल ग्रन्थ का क्रम भंग करने वाले ब्रह्महत्यारे सामान्य मनुष्यों को यह अनर्थ बन्द करने की चेतावनी दी, जिसने भोगवादी संस्कृति के पुजारी लेखकों की पुस्तकों की भरमार में से तत्त्वदर्शी ऋषियों के आर्षग्रन्थों को पहचानने की कसौटी प्रदान की, जिसने अनार्ष चिन्तन के घनघोर काले बादलों में छिपे आर्ष-ज्ञान के सूर्य के पुनः दर्शन करवाए , जिसके जीवन के अन्तिम दो दशकों में जीवन-वृत्त की परिधि का केन्द्रबिन्दु आर्षग्रन्थ रहे, भारतीय अस्मिता तथा पहचान को बनाए रखने की दिशा में क्रान्तिकारी पग उठाने वाले उस अमर योद्धा को नमन।

जब धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से पूर्णतया विघटित भारतवर्ष में अनेक छोटी-छोटी रियासतें थीं, जब उन पर अंग्रेज़ी शासन का शिकंजा दिन-प्रतिदिन कसता जा रहा था, जब अज्ञान, अशान्ति, दरिद्रता, भुखमरी, अकाल तथा अराजकता का पूर्ण साम्राज्य था, जब परस्पर घोर विरोधी मतमतान्तरों का जाल बिछा हुआ था, जब अनेक देवी-देवता थे जिनके भिन्न-भिन्न मन्दिर थे, जिनमें स्व-प्रकल्पित भिन्न-भिन्न शास्त्रों के आधार पर पूजा-पाठ की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ प्रचलित थीं, जब न चिन्तन समान था, न विचार; न आचार समान था, न व्यवहार;

न आराध्य देव एक था, न पूजा-पाठ की विधि; न आचार्य एक था, न धर्मग्रन्थ, जब विभिन्न पुराणों की रचना की जा चुकी थी, जब विभिन्न आचार्यों की सम्पूर्ण शक्ति अपने-अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता सिद्ध करने में लग रही थी, तब विदेशी शासन के विरुद्ध राजाओं एवं प्रजा में चेतना पैदा करने वाले, सम्प्रदायवाद के विरुद्ध सतत संघर्ष कर एकता का बीज-वपन करने वाले, पुराणों, मतमतान्तरों एवं सम्प्रदायों के विरुद्ध ध्वनित उस स्वर को नमन।

जब चैतन्य जीवात्मा जड़ प्रकृति के सामने माथा टेककर अपना और परमात्मा दोनों का अपमान कर रही थी, जब एक निराकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थनोपासना के बदले नित्य नए स्वनिर्मित भगवानों की मूर्तियों का पूजन जोरों पर था, जब मूर्तिपूजा और अवतारवाद ने जगन्नियंता प्रभु को ही उसके स्थान से अपदस्थ कर दिया था, जब लगभग सभी आचार्यों एवं सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों तथा उनके अनुयायियों ने मूर्तिपूजा के साथ दुरभिसन्धि करने में ही भलाई मान ली थी, जो आचार्य स्वयं अवतारवाद के पोषक न थे उनके शिष्य उन्हें ही अवतार एवं साक्षात् भगवान् मानने लग गये थे, ऐसे समय में मूर्तिपूजक परिवार में जन्मे, उन्हीं संस्कारों में पले, मूर्तिपूजा के प्रसिद्धतम गढ़ों में शिक्षा-प्राप्त तथा उन्हीं के बीच में रहने वाले जिस प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी ने मूर्तिपूजा और अवतारवाद को वेद-विरुद्ध घोषित कर इस चिन्तन को दृढ़ शास्त्रीय आधार प्रदान किया, जिस आचार्य ने स्वयं तो क्या जिसके शिष्य ने भी मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद से समझौता न किया, जिसने मूर्तिपूजा के स्थान पर गायत्री, प्राणायाम तथा योगाभ्यास पर आधारित ईश्वरोपासना पर बल दिया, उस सच्चे ईश्वरोपासक को नमन।

जब भारतीय समाज सभी आर्योचित गुणों से वंचित हो चुका था, जब चाटुकारिता, दम्भ, भयग्रस्त जीवन तथा पेटपूजा के लिए सत्य का क्रय-विक्रय सामान्य बात बन गई थी, जब हीनवृत्ति के कारण ईश्वर-पुत्र कर्मभ्रष्ट ही नहीं, नाम भ्रष्ट भी हो गए थे, जब अन्ध-विश्वासों, रूढ़ियों एवं अवैदिक मान्यताओं में फंसे समाज का धर्म मृतक-श्राद्ध एवं कण्ठी, माला, तिलक, छाप आदि बाहरी प्रतीकों तक ही सीमित हो गया था, तब उन कुरीतियों के विरुद्ध संघर्षरत उस समाज सुधारक को, उस महामानव को, उस पथप्रदर्शक को नमन।

जब बाल-विवाह एवं वृद्धविवाह के कारण भारत में बाल-विधवाओं की बहुसंख्या थी, जब मृत-पति के साथ सती होने के अतिरिक्त इन विधवाओं के पास कोई विकल्प न था, जब बाल-विधवाओं के करुण क्रन्दन का भी पाषाण

हृदयों पर प्रभाव नहीं पड़ रहा था, तब जिसने धार्मिक जगत् में यह साहसपूर्ण घोषणा की थी कि विधवा-विवाह वेद-वर्जित नहीं है, उस पराई-पीड़ा को अनुभव करने वाली करुणामय मूर्ति को नमन।

जिस आदर्श अध्यापक की भावना, तत्परता, विद्वत्ता तथा अध्यापन-शैली की श्रेष्ठता को सभी स्वीकार करते थे, वैचारिक मतभेद रखने वाले भी जिसे गुरु धारण कर गौरवान्वित होते थे, सूर्य और चन्द्रमा रूपी दीपक लेकर भी आकाश जिस सदृश गुरु को पृथ्वीतल पर न खोज पाया, जिसने दयानन्द रूपी स्वर्ण को तपाकर कुन्दन बना दिया, जिसने दयानन्द को आर्षमेधा तथा वेदनिष्ठा प्रदान कर उसमें ऋषित्व का विकास सम्भव किया, जिसके चिन्तन के अमृतकणों को दयानन्द ने कालान्तर में गंगधारा का वेग प्रदान किया, जिसने प्रभु से यही वर चाहा कि मनुष्य जाति भले उसे भूल जाए पर उसकी कलाकृति (दयानन्द सरस्वती तथा आर्षग्रन्थों की पहचान) को सदैव स्मरण रखे, उस गुरु को, सद्गुरु को, जगत्गुरु को नमन।

समय आने पर जिस दयानन्द के समक्ष सभी पण्डित, आचार्य, वैयाकरण, योगी, यति, पादरी, मौलवी, मठाधीश तथा आस्तिक, नास्तिक एवं संशयवादी चिन्तक निस्तेज और निष्प्रभ सिद्ध हुए, उसकी प्रतिभा जिस प्रतिभा के सामने हतप्रभ हुई थी, उसके पाण्डित्य ने जिसके पाण्डित्य का लोहा माना था, उसकी विचारशक्ति ने जिसकी विचारशक्ति का अनुसरण किया था, कैसा अद्भुत होगा ऐसी प्रतिभा, पाण्डित्य व विचारशक्ति का स्वामी वह दण्डी साधु! उस अद्भुत प्रतिभा को नमन।

जैसे गुरु-शिष्य शृंखला में यूनान ने सुकरात, प्लेटो और अरस्तू पैदा किए, उसी प्रकार भारत में विरजानन्द दण्डी, दयानन्द सरस्वती और गुरुदत्त विद्यार्थी हुए। तीनों का ध्येय एक था, लक्ष्य एक था। इस त्रिमूर्ति के प्रथम-पुरुष को, क्रान्ति के अग्रदूत को, स्वप्नद्रष्टा दण्डी स्वामी को नमन।

जिसके पुण्य प्रताप से उनकी उन्नीसवीं शताब्दी की यह चिन्तन परम्परा अगली शताब्दियों को सौंपने, कृष्ण जन्मभूमि से उदित होते दयानन्द रवि के दर्शन करने एवं यह अमर जीवन-गाथा लिखने का सौभाग्य भाषा, इतिहास, व्याकरण, साहित्य एवं शास्त्र-ज्ञान शून्य मुझ जैसे व्यक्ति को प्राप्त हुआ, उसकी पुण्य स्मृति को सादर नमन। शत-शत नमन।

परिशिष्ट 1 : दण्डीजी की पाठशाला

दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती की पाठशाला (वर्तमान में गुरु विरजानन्द स्मारक भवन) मथुरा में होली द्वार से विश्रामघाट जाने वाली संकरी सड़क पर छत्ता बाजार में विजयगोविन्द मन्दिर के सामने बायीं ओर सतघरां गली के निकट स्थित है। पहले होली द्वार को तिलक द्वार कहते थे। महात्मा गांधी के आह्वान पर यहाँ विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई थी, तब से यह होली द्वार नाम से प्रसिद्ध है। कभी यह मथुरा नगर में प्रवेश का दक्षिणी द्वार रहा होगा। अब यह नगर के लगभग बीच में स्थित है।

छत्ता बाजार को आजकल गुरु विरजानन्द बाजार के नाम से भी जाना जाता है। इस बाजार में पाठशाला के निकट ही सामने जो तंग गली है, उसी का नाम दशावतार गली है। यह टेढ़ी-मेढ़ी होती हुई विश्रामघाट के दक्षिणी छोर पर जा मिलती है। पाठशाला से लगभग सौ मीटर उत्तर-पूर्व में छत्ता बाजार में मोड़ पर बायीं ओर गतश्रमनारायण मन्दिर है। इस मन्दिर के सामने दायीं ओर एक मार्ग कंसखार बाजार होते हुए विश्रामघाट के उत्तर-पूर्वी छोर पर जा निकलता है। गतश्रमनारायण मन्दिर से थोड़ा आगे द्वारिकाधीश मन्दिर है। इस मन्दिर से चौक बाजार जाते हुए सेठ लक्ष्मीचन्द और उससे आगे अमरलाल जोशी बाबा की हवेली है। चौक बाजार के समीप मेघा गली में गूजरमल की हवेली थी। चौक बाजार से गुरु विरजानन्द की कुटिया लगभग आधा किलोमीटर और यमुना से कोई दो सौ मीटर दूरी पर है।

यह घर कभी सम्पतिराम सेनापति नामक मराठा की सम्पत्ति था। फरवरी 1925 में मथुरा में ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर यह बिलकुल खण्डहर के रूप में पड़ा था। बाद में आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश के प्रधान महात्मा नारायणस्वामी तथा मथुरा के आर्यनेता कर्णसिंह छोकर आदि के अथक परिश्रम से कुटिया की भूमि आर्यसमाज की सम्पत्ति बनी थी। जब इस मकान का स्वामी इसे आर्यसमाज को बेचने के लिए रज़ामन्द न हुआ, तो अदालती कार्यवाई की गई। यह मामला वर्षों विभिन्न न्यायालयों में चलता हुआ 27 अक्तूबर, 1952 को हाईकोर्ट तथा 1 फरवरी, 1954 को सुप्रीम कोर्ट में पहुँचा। तब इसका अधिकार आर्यसमाज को मिला। दयानन्द दीक्षा-शताब्दी

के अवसर पर 25 दिसम्बर, 1959 को तत्कालीन राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने नवीन भवन का शिलान्यास किया था, जिसका उद्घाटन पन्द्रह वर्ष बाद 16 फरवरी, 1975 को उपराष्ट्रपति बी.डी. जत्ती ने किया था। यह बहुत तंग स्थान है, लगभग चार मीटर चौड़ा और आठ मीटर लम्बा। वर्तमान में इस पाँच मंज़िला भवन में पूर्व की ओर खिड़की तथा दरवाजे हैं।

दण्डी जी के समय में इस पाठशला का जो स्वरूप था यदि पण्डित मुकुन्ददेव उसका चित्रण न करते,[1] तो आज उसका अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं था। दण्डी जी की कर्मस्थली और ऋषिवर की तप:स्थली यह मकान ऊँची-नीची भूमि पर बना हुआ था। बाजार में दो दुकानें (संख्या 1 व 2) और उनके साथ अन्दर जाने का मार्ग तथा ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ (संख्या 3) थीं। कोठड़ी संख्या 4 को छोड़कर पिछला सारा भाग उनकी छत के बराबर ऊँचा था। कमरा संख्या 3 के ऊपर एक छोटा-सा कमरा (संख्या 6) था, जिसमें से होकर बड़े कमरे (संख्या 5) में जाते थे। यह बड़ा कमरा
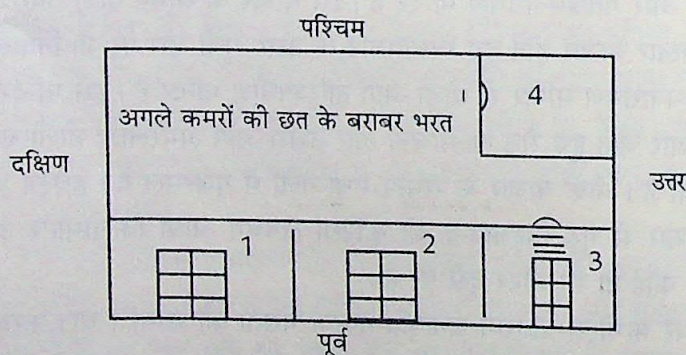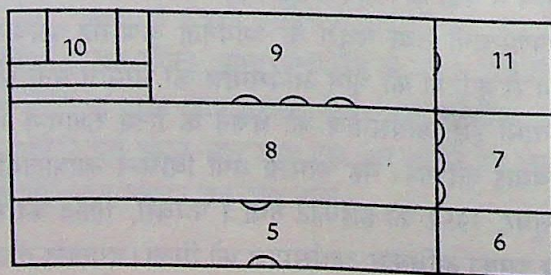
नीचे की दोनों दुकानों के (संख्या 1 तथा 2) ऊपर बना हुआ था। नम्बर 7 पौली थी जिसके दक्षिणाभिमुख तीन दरवाजे सामने खुले आंगन (संख्या 8) की ओर थे। नीचे की सीढ़ियाँ इस पौली में पहुँचती थी। कमरा संख्या 5 तथा 6 के बीच में दरवाजा था जिसमें किवाड़ चढ़े हुए थे। प्रत्येक आगन्तुक सीढ़ियाँ चढ़कर कमरा संख्या 6 में से होकर बड़े कमरे (संख्या 5) में प्रवेश करता था। इस बड़े कमरे का एक दरवाजा आंगन में खुलता था और दूसरा बाजार की ओर। सामने तिवारी (संख्या 9) थी जिसके साथ नीचे एक छोटी-सी कोठड़ी (संख्या 4) थी। तिवारी की बगल की सीढ़ियों (संख्या 10) से तिवारी की खुली छत पर जाया जाता था। नीची कोठड़ी (संख्या 4) के ऊपर बने कमरे (संख्या 11) की छत से होकर कमरा (संख्या 12) में पहुँचते थे। यह कमरा (संख्या 12) पौली (संख्या 7) के ऊपर बना था। कमरा संख्या 5, 6, 9 तथा 11 के उपर कोई कमरा न था। खुले आंगन (संख्या 8) के ऊपर बांसों का टट्टर था।

दण्डी जी प्राय: कमरा संख्या 12 में शयन करते थे। इसमें सफेदी हुई हुई थी। इसकी छत पर चान्दनी लगी थी। नीचे साफ-सुथरे फर्श पर सफेद चान्दनी बिछी रहती थी। इसमें एक सुन्दर पलंग बिछा था। पश्चिम में पूर्वाभिमुख मसनद सहित एक गद्दी थी जिसपर वे कभी-कभी बैठकर पढ़ाया करते थे। तिवारी में सामान रखने तथा स्नान व पूजा-पाठ करने का स्थान था। साथ ही नीचे कोठड़ी (संख्या 4) में शुध्यर्थ उचित व्यवस्था थी। बिना किसी व्यक्ति अथवा लाठी के सहारे के दण्डी जी सर्वत्र सुविधापूर्वक आ जा सकते थे।

बाजार की ओर से सीढ़ियाँ चढ़कर बड़े कमरे (संख्या 5) में प्रवेश करते थे और वहाँ विद्यार्थी बैठकर पढ़ा करते थे। इसमें सुन्दर गद्दी तो बिछी थी पर कोई पलंग नहीं था। इसका जो दरवाजा कमरा संख्या 6 की ओर था उसमें ऐसी व्यवस्था थी कि आगन्तुक इसे स्वयं खोल और बन्द कर लेता था। दण्डी जी को द्वार खोलने का कष्ट करना नहीं पड़ता था।

न जाने क्या-क्या सोचता हुआ साधु दयानन्द सरस्वती इन्हीं सीढ़ियों से चढ़कर गुरु-चरणों में उपस्थित हुआ था!

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 43-45

परिशिष्ट 2 : कवित्त

कविवर नवनीत चतुर्वेदी का जन्म मार्गशीर्ष शुदि 15, सम्वत् 1915 (20 दिसम्बर, 1858) को हुआ। अढ़ाई वर्ष की अल्पायु में चेचक के कारण उनकी एक आंख जाती रही। उनके पितामह पण्डित किशनसिद्ध महलवाले ने यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् उन्हें दण्डीजी की पाठशाला में अष्टाध्यायी पढ़ने के लिए प्रविष्ट किया। दण्डीजी के स्वर्गगमन पर्यन्त तीन साल कविवर उनसे पढ़ते रहे।[1] फिर उन्हीं के शिष्य पण्डित गंगादत्त से लघुकौमुदी पढ़ी। ब्रज-भाषा के प्रसिद्ध कवि नवनीतजी रीतिकाल एवं आधुनिककाल के मध्य की कड़ी हैं। उन्होंने अढ़ाई हजार स्फुट छन्दों एवं अठारह ग्रन्थों का प्रणयन किया है।[2] कविरत्न नवनीत ने निम्नलिखित कवित्त[3] में दण्डीजी के प्रचण्ड स्वरूप तथा उनके जीवन की कुछ घटनाओं का रोचक वर्णन किया है —

विरजा किनारे वसि ब्रज जन दीक्षा दई
पूर्णानन्द गुरु सो समग्र ज्ञान पायौ हो।
नवनीत सुवन सरस्वती पुलिन जन्म
जन्म अन्ध विरजू सात वर्ष का सिधायो हो।।१।।
योग तप बल तें अधीत वेद वेद-अङ्ग
संग शिवानन्द[4] ब्रह्मचारी मित्र पायौ हो,
संवत् अठारह सौ तेरह[5] में कृष्णानन्द[4]
सामवेदी दण्डी घाट ही को बनवायो हो।।२।।
वृन्दावन बीच रंगाचारी रंगमन्दिर में
ताको शिष्य लल्लूलाल[6] विप्र अभिमानी भौ,
नवनीत तासो गङ्गादत्त को विवाद छिड़्यो
अधिकरण षष्ठी तत्पुरुष प्रमानी भौ ।।३।।
दक्षिणा दे सेठूहू ने संमति कराई झूँठि
विद्यावाद वाराणसी पुरी वेदवानी भौ,
आगरे कलक्टरी न्याय ना मिल्यौ तौ
प्रज्ञाचक्षुहू प्रतिज्ञा काज उद्यत अमानी भौ ।।४।।

उन्नत ललाट बलबहुल विशाल मुण्ड
अक्षमालमाल भव्य चन्दन त्रिपुण्ड्री ने,
नवनीत प्यारे पर पच्छगिरि पच्छन पै
वज्राघात डिण्डिम नाम खलखण्डी ने ।।५।।
सम्प्रदायवाद वेदविहित विवर्जित पै
सासन विदेशिन कौ नासन प्रचण्डी ने,
गोरे के अगारी ही उद्दण्ड भै उठाय दण्ड
चण्ड ह्वै प्रतिज्ञा करि प्रज्ञाचक्षु दण्डी ने ।।६।।
आय मथुरा में शिष्यमण्डली बुलाय लीनी
आपने हिय के भाव कही समुझा गये,
कवि नवनीत मथुरा के सम्प्रदायवादी
सुन सुन वचन संकुचि सरमा गये।।७।।
गङ्गादत्त हे जो रङ्गाचारी मतु खण्डन में
पुस्तक ''रङ्गोक्तिपरिभावन''[7] बना गये,
दयानन्द ही ने चर्णपादुका पकरि लीनी
दयाकर दर्शन के दर्शन करा गये।।८।।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. पण्डित पद्मसिंह शर्मा, पद्म-पराग, प्रथम भाग, पृष्ठ 130-149; माधुरी, मई 1928, छठा वर्ष, खण्ड 2, पृष्ठ 452-54 ; नवनीत के पितामह तथा दण्डीजी गुरु-भाई थे।

2. नवनीत चतुर्वेदी की जीवनी एवं काव्य सम्बन्धी अधिक जानकारी हेतु द्रष्टव्य: नन्दलाल चतुर्वेदी, कविरत्न नवनीत

3. वेदवाणी, मार्च 1960, पृष्ठ 11-12; टंकारा पत्रिका, मार्च 1960, पृष्ठ 12

4. दोनों स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती के शिष्य थे।

5. वस्तुतः सम्वत् 1879 वि. है और तिथि वैसाख बदी 13 ; दण्डीघाट का निर्माण नवनीत के पितामह किशन महलवाले ने वैसाख बदी 13, सम्वत् 1879 वि. को करवाया था — ऐसा घाट पर लगे पत्थर पर खुदा हुआ लेखक ने स्वयं 18 नवम्बर, 2001 को देखा है।

6. लक्ष्मण शास्त्री से अभिप्राय है।

7. गंगादत्त के प्रपौत्र दिनेशदत्त चतुर्वेदी के पास 'रंगोक्तिपरिभावन' की संस्कृत एवं हिन्दी में हस्तलिखित प्रति लेखक ने 18 नवम्बर, 2001 को देखी है।

परिशिष्ट 3 : सार्वभौम-सभा-विवरणपत्र

अनन्तश्रीः

सार्वभौमो विजेषीष्ट रामसिंहो महायशाः।
जयसंज्ञे पुरेऽभीक्ष्णं सेव्यमानो नरेश्वरैः ।।१।।
सार्वभौमसभा येन प्रतिज्ञाता मयान्तिके।
सर्वभूपुस्तकभ्रंशनिवृत्त्यै तां करिष्यति।।२।।
द्वैप्यास्तेजस्विनो धीरा यस्य मित्राणि सर्वशः।
राजकं शासनं तस्य शिरसाऽन्ये वहन्ति वै।।३।।

भाषा — सार्वभौम कौन कि सर्वभूमि का ईश्वर — सर्वभूमि के राजा जिसको नजराना (उपहार)[1] देते हैं, इस तरह के सार्वभौम अनेक राजा भये (हुए) हैं, परन्तु जो सर्वभूमि का उपकार करके सार्वभौम है वो महायशः सार्वभौम है। युधिष्ठिरादिकन के रूवरू (समय में) पुस्तकभ्रंश (मूल पुस्तक के साथ छेड़छाड़) नहीं था यानी पुस्तक-मर्यादा बन रही थी। अब तो पुस्तक-मर्यादा सार्वभौम नाम रामसिंह नरदेव (राजा) की करी होयगी, यासे(जिससे) युधिष्ठिरादिकन से भी सिवाय (अधिक) उनका यश होगा। धर्ममूल पुस्तक की स्थिति के वास्ते सार्वभौम सभा करने की प्रतिज्ञा है मेरे रूबरू (समक्ष) नरदेव ने करी है, सो भरोसा है सार्वभौम सभा करेंगे॥ १-२॥ मित्रवान् राजा से (ऐसी सभा) हो सकती है। समर्थ मित्र जिसके होंय उस राजा का शासन सर्वभूमि के राजा सिर करके धारण करेंगे। सो रामसिंह सार्वभौम नरदेव के मित्र समर्थ हैं, सर्वभूमि में जिनकी प्रवृत्ति और धीर समझवार (समझदार) सब राजा जिनकी बात का प्रमाण करैं, द्वीपान्तरवासी साहब लोग रामसिंह सार्वभौम महाराज के मित्र ही हैं। पुस्तक का पुस्तकान्तर नहीं बनता, यह बात उनकी समझ में अच्छी तरह से आ सकती है, सार्वभौम सभा में पुस्तकमर्यादा जैसी ठहरेगी, सोई (वही) हुक्म सर्वभूमि में जारी होगा॥३॥

समर्थोऽहं न संदेहः सभायां राजसन्निधौ।
मदुक्त्यतिक्रमं कर्त्तुं कश्चिन्न विवदिष्यते।।४।।
सुपन्थानं समाश्रित्य वाचं सुब्रुवतो मम।
सत्यं सत्यं वदिष्यन्ति सार्वभौमसभासदः।।५।।

एतन्निश्चित्य कुर्वीत सार्वमौमसभां नृपः।
सत्यं ब्रुवे जगत्तस्य कीर्त्या श्वेतीभविष्यति।।६।।

यह संदेह न किया (जावै) कि इस बात के वास्ते दिन महीना वर्ष लगेगा क्योंकि सभा में राजा के रूबरू हम समर्थ हैं। जो हम चाहते हैं वह बात सब घंटे भर के भीतर क़वूल (स्वीकार) हो जायगी, विवाद करने वाला कोई नहीं ॥ ४ ॥ क्योंकि मार्ग ही हमने वह लिया है जिसको कोई न रोक सकेगा। नियम ठीक है ॥ ५ ॥ यहां निश्चय करके सार्वभौम सभा करै। महाराज की कीर्ति करके जगत् श्वेत होवेगा ॥६ ॥

यह बात समझनी चाहिये कि पुस्तकोत्थ[2] में धर्म का नाश है क्योंकि धर्म का वक्ता जीवित पुरुष होता है, उसका पुस्तकोत्थ होने से फिर उसका प्रमाण ठहर (स्थिर हो) जाता है। पुस्तक-स्थिति में धर्म की स्थिति है। पुस्तकोत्थ क्या है कि उनका नाम लेकर पुस्तक का पुस्तकान्तर बनाना। पुस्तकस्थ वृत्तान्त को पौस्तक कहते हैं, सो अध्येता (पढ़ने वाला) को बचवा (पढ़वा) करके समझा दिया जाता है कि और जो केवल श्रोता ही होय तो उसको चिट्ठी की तरह सुना दिया जाता है। पौस्तक[2] लिखा नहीं जाता है। मूर्ख लोग पुस्तक लिख करके एक-एक पुस्तक के असंख्यात बेशुमार टीका पुस्तक बनाते हैं। धर्म का नाशक पुस्तकोत्थ यह होता है। पुस्तक स्थिति क्या है कि जो पुस्तक का सनातन बना रहना है। पौस्तक उसको गुरु से समझ लेना है, अपनी शक्ति होय तो आप समझ लेना। पुस्तक लिखा जाता है, पौस्तक नहीं लिखा जाता। प्रथम गुरु सद्‌गुरु पुस्तकस्थ है। दूसरा गुरु बाहर है जो जीवता (जीवित) होय (और) मुख से बोले। इस बात का नाम पुस्तक-स्थिति है। इसमें धर्म की स्थिति है क्योंकि पुस्तक वही है जिसमें देख करके बात कही होय। उस पुरुष का सब किसी को प्रमाण करना वाजिब (उचित) होगा।

अधीतौ शब्दशास्त्रस्य दण्डिनो गुरुरस्ति कः।
इति पृच्छन्तमाचष्टे सोपपत्तिसुहृद्वचः।।

कोई पूछता है शब्द-शास्त्र (व्याकरण) के अध्ययन में दण्डी[3] का गुरु कौन है ? दण्डी का सुहृद् (साफ दिल) जवाब देता है —

ऋषिः शब्दत्वमापद्य वर्त्तते निजपुस्तके।
अपेक्ष्य वेदितुर्वाक्यन्तमेवाविशति स्वयम्।।

भाषा — गुरु दो होते हैं। बाह्य गुरु दण्डी का नहीं। पुस्तकस्थ सद्‌गुरु तो है।

जिस ऋषि ने पुस्तक बनाया, वह ऋषि शब्द रूप होके अपने बनाये पुस्तक में वर्तमान है, जो विद्वान् हो यानी समझवार होय और वाग्मी होय यानी प्रगल्भवक्ता होय, उसकी वाक् ऋषिवाक् है। इस वास्ते (लिए) कि उसमें ऋषि का आवेश (प्रवेश) हो जाता है, तभी वह पुरुष प्रमाण होता है। उसका सद्गुरु पुस्तक में है। दण्डी का सद्गुरु पुस्तकस्थ है।

ऋषिर्वै पौस्तकः शब्दः पुस्तकं तत्कृतं यदि।
शब्दप्रमाणकाः शिष्टा विप्रास्तेनर्षयः स्वयम्।।

जो शब्द ऋषि ने पुस्तक में लिखा, वह शब्द ऋषि है। उस पुस्तक करके (के कारण) ब्राह्मण लोग शब्दप्रमाण का शिष्ट आप ही ऋषि होते हैं। पुस्तक अगर ऋषि का किया होय तो तब यह बात है और जो ऋषि का नाम ले करके अन्य किसी ने पुस्तक बनाया, यथा व्यास ऋषि का नाम ले करके बोपदेव ने भागवत बनाया, मुग्धबोध भागवत के वास्ते व्याकरण बना दिया, या (इस) तरह के जो पुस्तक होते हैं तिन में जो शब्द है सो ऋषि नहीं होता। जितना शब्द ऋषि ने पुस्तक में लिखा है उसी को लेकर के ब्राह्मण लोग शब्दप्रमाण होते हैं। वृत्ति बना करके पुस्तक में लिखने वाला पामर होता है। इस बात के वास्ते भ्राज श्लोक[4] लिखते हैं —

अध्येता वेदितव्या या सूत्राणां सूत्रपुस्तके।
कथं लेख्या भवेद् वृत्तिः सा तत्रैव विचार्यते।।

अपर आह-

शास्त्रेण वार्यते लेखो लिखतैर्वोपलभ्यते।
प्रष्टव्यो गुरुरिष्येत एवमस्ति क्वचित् क्वचित्।।

सूत्रन (सूत्रों) की वृत्ति सूत्र पुस्तक में ही बन जाती है। अध्येता समझ लेता है, अध्यापक समझा देता है। अष्टाध्यायी का दूसरा पुस्तक नहीं बनता और वृत्ति बनाकर लेख करने का शास्त्र में निषेध कियो है। तीसरी बात यह है कि वृत्ति लिखी हुई ज्यों-की-त्यों दीख जाती है। चौथी बात यह है कि आप न समझ सकें तो गुरु से पूछें, लिखने का कुछ काम नहीं। पांचवीं यह बात है कि बहुत सूत्राध्ययन पुण्य है। उनकी विभक्ति मात्र समझ लीनी जाती है, विशेष अर्थ उन सूत्रन का गुरु भी नहीं समझा सकते हैं।[5]

अध्ययनं तदेवेह ज्ञात्वा वृत्तिमुदाहरेत्।
ऋषीणां पुस्तकेष्वेव गन्धनं हि ततोऽन्यथा।।

अध्ययन इसी का नाम है पुस्तक में वृत्ति समझ करके सलेट में उदाहरण

समझ ले।[6] लिखा देखना होय तो ऋषिन के पुस्तक में देख ले। वृत्ति उदाहरण लिख लिख के दूसरा पुस्तक करे तो दस्तन्दाजी (हस्तक्षेप, प्रक्षेप) होती है। इस बात का नाम शास्त्र में गन्धन[7] लिखा है।

संस्कृतवाग्देवभाषा तत्संस्कारः शब्दशास्त्रेण।

मनुष्यन का व्यवहार मनुष्यभाषा बिना नहीं होता है। इस वास्ते शब्दशास्त्र मनुष्यभाषा में ही पढ़ाया जाता है। देश देश के मनुष्यन की अपनी भाषा जुदी जुदी (भिन्न-भिन्न) होती है। जिन मनुष्यन का परस्पर व्यवहार है, उनको आपस में (व्यवहार करने के लिए) भाषा सीखनी पड़ती है। उस देश में जाय (जाकर) रहे तो सीख ले अथवा उस देशभाषा की किताब उस्ताद (अध्यापक) से पढ़ले। उस्ताद को अख़तियार (अधिकार) है कि चाहे तो अपनी बनाई किताब पढ़ावे, चाहे तो और किसी उस्ताद की बनाई किताब पढ़ावे। मनुष्यभाषा में किताब बनाने का उस्ताद कू (को) अख़तियार है। यथा (जैसे) देशान्तर के मनुष्यन की आपस में आमदरफ्त (यातायात) है तथा (वैसे) देवन की और मनुष्यन की आपस में आमदरफ्त नहीं है। देवन की भाषा का क़ायदा (नियम) देव ही जानते हैं और तपोबल से जो मनुष्य ऋषि हुए हैं, वे भी देवभाषा का क़ायदा जानते हैं। देवभाषा के क़ायदे का मनुष्य कू पुस्तक बनाने में अधिकार नहीं। शब्दशास्त्र के सूत्र लग करके मनुष्यभाषा की देवभाषा बन जाती है।

द्विरनुक्रम्याधिकृतं सूत्रं वार्तिकं भाष्यं गण
इत्येवं शब्दशास्त्रमाचार्यैः कृतपुस्तके वर्त्तते।

दो अनुक्रम शब्दशास्त्र के होते हैं। गणसूत्र और वृत्तिसूत्र यह प्रथमानुक्रम है और वार्त्तिक सूत्र और भाष्य द्वितीयानुक्रम है। भाष्य सहित जो त्रिसूत्री है उसको ब्राह्मण धारण करते हैं, वही पुस्तक भूलोक व्याकरण है।[8]

पुस्तकस्थस्यैव शास्त्रत्वाच्छास्त्रस्यारम्भपरिसमाप्ती
अपि सम्भवतः पुस्तकसमाप्तावेव गुरुरपि सम्भवति।

जितना विद्या (का) शासन (नियम) पुस्तक में लिखना बाजवी (जरूरी) है, सो सब लिखा जाय पुस्तक की संख्या हो जाय। उस विद्या में दूसरे के पुस्तक की आकांक्षा न रहै, तब वह पुस्तक शास्त्र होता है। उस पुस्तक को पढ़कर के पुरुष शास्त्र का पारदृश्वा होता है। जो शास्त्र का पारदृश्वा है, सोई गुरु हो सकता है। जब से यह चाल चली कि पुस्तक की व्याख्या के वास्ते दूसरा पुस्तक होता है। उसका फिर और होता है, तब से उस मूल पुरुष

का प्रमाण ही न रहा, कोई किसी का गुरु न रहा। जब यह बात इस तरह भई तब देवभाषा के पढ़ने वाले गुरुरहित अशिष्ट नालायक हुवे।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।।[9]

गुरु पुस्तकस्थ जो पुरुष है वो महाजन है। धर्मतत्व के प्रेक्षावान् पुरुष के हृदय में और गुरु पुस्तक में फर्क न हुआ चाहिये। चाहे जीवित पुरुष पुस्तक का वृत्तान्त पुस्तक में समझा देवे, सो गुरु है। उसका वचन धर्म में प्रमाण है। तर्क से धर्म का निर्णय नहीं होता क्योंकि तर्क अप्रतिष्ठ है। तर्क के ऊपर और तर्क हो जाता है। तर्क नाम दलील का है। श्रोता की समझ श्रुति होती है। इससे श्रुति का भी ठिकाना नहीं। मनन करने वाला मुनि है। सो मनन करने वाले अनेक हैं। किस किस का मत धर्म मार्ग लिया जावे ? चलने वाला तो एक ही रस्ते चल सकता है। तिससे पुस्तक का भेद न हुआ चाहिए। सप्त द्वीपन के मनुष्यन का शब्दशास्त्र तो एक ही है और विलायतन (विदेश) में भी तपोबल से मनुष्य पयंबर (पैगम्बर) का दर्जा पाते हैं। उनके मत के जो मनुष्य हैं वे भी अपने पयंबर की किताब में जो शब्द लिखा है, उसी का प्रमाण करते हैं, दूसरे का लिखा प्रमाण नहीं करते हैं। एक पुस्तक के अनेक पुस्तक बना करके अनेक संप्रदाय अपनी प्रतिष्ठा के वास्ते आदमी चलाते हैं। तो यह पन्था (मार्ग) नहीं।[10] एक पुस्तक में महाजन दूसरा नहीं होता है। जो विद्वान् पुस्तक का वृत्तान्त पुस्तक में समझा देवे, वह पुस्तकस्थ आचार्य के साथ एकीभूत है। उस जीवित पुरुष का वचन पन्थ है, वही महाजन है।

यत्रर्षौ यस्य श्रद्धा स ऋषिस्तस्य महाजनः। तदृषिपुस्तकं तस्य धर्मपथः पुस्तके दर्शितेन पथा स ऋषिर्गन्तव्यं गतः मत्प्रमाणका अनेन गच्छन्तु इति वेदवेदाङ्गधर्मशास्त्रपुराणादीनि ऋषिभिः पुस्तकेषु निवेशितानि शब्दशास्त्रस्योदा-हरणभूतानि तत्सहायं शब्दशास्त्रं पुस्तकस्थं तेषां मुख्याङ्गभूतं तेषु प्रवर्त्तते जागृति शब्दशास्त्रपुस्तके सर्वर्षिपुस्तकानि न ह्रसन्ति न वर्द्धन्ते एवं शब्दशास्त्र-पुस्तकेनैवर्षिपुस्तकानां रक्षा भवति अध्यापका यथाबुद्धि अपशब्दज्ञानपूर्वक-मध्यापयन्त्येव न पुनः पुस्तकं कुर्वन्ति दैवात्सत्स्वध्यापकेषु सर्वेषां पुस्तकानां व्याख्यानभूते शब्दशास्त्रपुस्तके स्वपित्येष भ्रंशः प्रवर्त्तते कर्तृणां वेदितृणां च पुस्तकानां च प्रामाण्यं नश्यति विद्यर्षिर्विद्यापुस्तकं समाप्य ब्रह्मणि लीनो विद्यारूपोंऽशोऽस्य पुस्तके वर्तमानो जीवन्तं वेदितारमपेक्षते यः पृष्टो विदित्वा

वदेदपृष्टो विरमेत् पुनः पृष्टोऽपशब्दज्ञानपूर्वकं पुनर्ब्रूयात् पुस्तकान्तरं नापेक्षते नहि पुस्तके एवंरूपता संभवति वर्त्तन्ते चेदानीं वेदितारोऽध्यापकाश्च अतो न पुस्तकस्य पुस्तकान्तरापेक्षास्ति तस्मात्पुस्तकान्तराणां कर्त्तारो ब्रह्महणो नष्टं तेषां प्रामाण्यम्।

जिस ऋषि में जिसकी श्रद्धा होय वो ऋषि उसका महाजन है। महाजन सब गुरुन का परम गुरु है, उस ऋषि का पुस्तक धर्म मार्ग है। पुस्तक में दिखलाया जो पन्था (है) उसी करके (कारण) प्राप्तव्य वस्तु कू ऋषि प्राप्त हुआ है। लिखना इसी वास्ते है कि जो लोग मुझको प्रमाण मानते हैं उनका भी यही रस्ता है। वेदादिकन की पुस्तक में लिखना इसी वास्ते है। जो ऋषि ने लिख दिया सो लिख दिया फिर लेख किसी कू न करना। वही वेदादिक शब्दशास्त्र के उदाहरण हैं। अपने बनाये सुध्युपास्यः कुध्युपास्यः उदाहरण नहीं होते हैं। यदि लिखा हुआ उदाहरण शब्दशास्त्र का समझना होय तो वेद पुराण (पुराने) धर्मशास्त्र इत्यादिकन में ही समझना।[11] उन वेदादिकन का सहायक शब्दशास्त्र आदमी के बनाये पुस्तकन में नहीं होता है। जब तक शब्दशास्त्र जगै है तब तक सब ऋषिन के पुस्तकन का वृद्धि (बढ़ना) ह्रास (घटना) नहीं होता है। या (इस) तरह पुस्तकन की रक्षा होती है। पुस्तकन का पौस्तक जवानी (मौखिक) होता है, लिखा नहीं जाता। पढ़ाने वाले जैसी उनकी बुद्धि है तैसे देशभाषा के शब्दन में लिखा के पढ़ाते हैं, पुस्तक नहीं लिखाते। यदि इत्तिफ़ाक दैवयोग से कभी पढ़ाने वाले न रहे, तब सब पुस्तकन का व्याख्यानरूप शब्दशास्त्र पुस्तक हो जाता है। तब यह भ्रंश अन्याय ग़दर (अव्यवस्था) होता है। क्या ग़दर होता है कि पुस्तक के करने वाले का और समझने वाले का और पुस्तक का भी प्रामाण्य नाश हो जाता है और जो पुस्तक के ऊपर पुस्तक न बने तो तीनों का प्रामाण्य बना रहता है क्योंकि विद्या का ऋषि विद्यापुस्तक को समाप्त करके यानी पुस्तकान्तर की अपेक्षारहित करके ब्रह्म में लीन हुआ जो ऋषि का विद्यारूप अंश है सो पुस्तक में वर्तमान है। जीवते विद्वान् की इच्छा करै है जो पूछै के ऊपर बोले, जब तलक वह समझे तब तलक चुप रहै। फिर पूछै तो शब्द भाषा में समझावे। पढ़ाने के वास्ते दूसरा पुस्तक नहीं चाहिये। अब तो शब्दशास्त्र के ज्ञाता पढ़ाने वाले मौजूद हैं, अन्याय ग़दर नहीं मचना चाहिये। एक पुस्तक का दूसरा तीसरा चौथा पुस्तक बनाने वाले ब्रह्महत्या करते हैं। उन पापीन का क्या प्रमाण है।

अध्येतुं वेदितुं यत्राधिकारो न ततोऽन्यथा।
तत्रैव पुस्तकं कृत्वा ब्रह्महा न कथं भवेत्।।

गुरु से पढ़ लेना। गुरु न मिले और अपने में समझने की शक्ति होय तो आप समझ लेना। जो पुस्तकस्थ वस्तु आप समझ लई, उसे दूसरा यदि समझा चाहे तो उसको उसी पुस्तक में समझा देना। ऋषि पुस्तक में मनुष्य का इतना ही अधिकार है। जो ऋषि पुस्तक के ऊपर अपना पुस्तक बनाता है वह दाम्भिक (दम्भी)है। ऋषि पुस्तक का अर्थ कुछ नहीं समझा। ऋषि पुस्तक का नाम मूल पुस्तक धरै है, अपने बनाये पुस्तक का नाम टीका पुस्तक धरै है। यह व्यवहार शास्त्र में नहीं होना चाहिये। टीका तो मस्तक पै लगे है। अपनी उच्छिष्ट (जूठन) अशुद्ध वाक्य ऋषि के मस्तक पै लगावै है। याते ब्रह्महा (ब्रह्म हत्यारा) चाण्डाल ऐसी हरकत (चेष्टा) करने वाला होता है। शब्दशास्त्र के ग़दर में या रहके आदमी के चलाये अनेक संप्रदाय जारी हो गये हैं।

वर्षाणां द्वे सहस्त्रे (इ) हावरतः समयो गतः।
प्रस्वापे शब्दशास्त्रस्य पुस्तकोत्थस्ततोऽभवत्।।

कमती (कम) से कमती दो हजार वर्ष काल व्यतीत हुआ[12] शब्दशास्त्र के स्वापनिद्रा में, इस कारण से पुस्तकोत्थ हो गया, पुस्तकन का ठिकाना न रहा। कोई तो पुस्तकन का सार निकाल करके छोटा पुस्तक बनावै है, कोई एक गुण का शतगुण करै है। कोई झूठे सच्चे अनेक पुस्तकन को देख करके कल्पवृक्ष पुस्तक बनावै है। जो कुछ कागज में चढ़ा दिया झूठ सच सो सब शास्त्र ठहर जाता है। इसमें दृष्टान्त है कि यमुना नर्मदा सदा जारी रहेगी, गंगा जी की उमर तो बत्तीस वर्ष बाकी रही, ऐसा तिथि पत्रन में लिखा जाता है। गोपालसहस्रनाम बनाया, उसमें लिखा **गोपालकामिनीजारश्चौरजारशिखामणिः।**[13] बनाने वाला धूर्त्त प्रत्यक्ष गाली दे है और बनिया लोग ब्राह्मण से वाही का पुरश्चरण करवावैं हैं। वाही तरह का महाभारत से विरुद्ध व्याकरण में अशुद्ध भागवत नाम पुस्तक बोपदेव ने बनाया,[14] उसमें कथा लिखी कि कन्यान को नग्न करके कन्यान की योनि भगवान् ने देखी, देख करकै प्रसन्न भये। उस कथा के सुनने वाले लोगन ने चीरहरण घाट नाम करके तीर्थ मुक़र्रर (नियत) कर लिया,[15] ये सब कथा झूठी है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः। यह गीता में लिखा है।[16]

अधर्महेतुर्दुर्वारो नश्येदपि क्षणादयम्
उद्बोधं शब्दशास्त्रस्य शृणुयुश्चेन्नराधिपाः ।।

अधर्म का कारण पुस्तकोत्थ सर्वभूमि में चल गवा। हटना अब इसका मुश्किल (कठिन) है। सर्वभूमि के राजा शब्दशास्त्र का उद्बोध सुन लें तो अब हट भी जाय। उद्बोध नाम जगने का है, प्रस्वाप नाम सोने का है। जब शब्दशास्त्र के पढ़ानेवाला सर्वभूमि में कोई एक भी नहीं रहता है, तब मिथ्या पण्डित लोग सनातन पुस्तकन की दुर्दशा करते हैं। अपने बनाये पुस्तक ऋषि पुस्तक में मिला देते हैं। यथा सूने घर में कुत्ता खोदकै बैठता है। शब्दशास्त्र के प्रस्वाप में यही दुर्दशा पुस्तकन की हो जाती है। यह बात राजान् कू मालूम भये (होने) पर पुस्तकोत्थ नहीं रह सकता।

विवदेत न कोऽपीह पुस्तकोत्थनिवारिणे।
दण्डिनोऽग्रे सभामध्ये प्रभौ शृण्वत्यनाकुले ।।[17]

जो पुस्तकोत्थ का मुद्दई (वादी, समर्थक) है उसके अगाड़ी सभा के बीच में रूबकारी (मध्यस्थता) राजा करै तब विवाद करने वाला कोई नहीं ठहर सकता। मिथ्या पुस्तक को त्याग करना सब लोग क़वूल (स्वीकार) कर लेंगे।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. इस विवरणपत्र में कुछ प्रयुक्त शब्दों के अर्थ कोष्ठक में लिखे गए हैं और आवश्यकतानुसार पूर्ण विराम लगाए गए हैं ताकि समझने में सुविधा रहे। पृष्ठ 108-112 पर लिखा विश्लेषण इस विवरणपत्र को समझने में सहायक है।

2. पुस्तकोत्थ —पुस्तक से उठा, पुस्तकों की भरमार

3. गुरु विरजानन्द सरस्वती ने स्वयं को दण्डी कहकर सम्बोधित किया है। इसीलिए इस पुस्तक में उनके लिए दण्डीजी शब्द का प्रयोग किया गया है।

4. भ्राजा: अथवा भ्राजश्लोका: कात्यायन का ग्रन्थ बताया जाता है (Monier Williams, Sanskrit-English Dictionary, p. 770)। इसे पतंजलि ने भी महाभाष्य में उद्धृत किया है। भ्राज का शाब्दिक अर्थ है चमकना।

5. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है, ''गुरु भी नहीं समझा सकते हैं ''(विरजानन्द-चरित, पृष्ठ 206) परन्तु स्वामी वेदानन्द ने इसे बदलकर ''गुरु ही समझा सकते हैं'' (स्वामी विरजानन्द सरस्वती का जीवन-चरित, पृष्ठ 104) कर दिया है।

6. पहले स्लेट पर लिखकर अभ्यास किया करते थे। दण्डीजी लिखकर पुस्तक बनाने के विरुद्ध थे। अत: दण्डीजी सावधानी बर्त रहे हैं।

7. मूल प्रकृति को बदलना

8. त्रिसूत्री से अभिप्राय अष्टाध्यायी, वार्त्तिक सूत्र और महाभाष्य है। ये मुनित्रय की सूत्र

रचनाएँ हैं। अष्टाध्यायी के अन्य तीन नाम अष्टक, शब्दानुशासन और वृत्तिसूत्र हैं। पाणिनीय सूत्रपाठ के लिए वृत्तिसूत्र पद का प्रयोग महाभाष्य में दो स्थानों (2.1.1 तथा 2. 2. 24) पर उपलब्ध है।

9. महाभारत, द्वितीय खण्ड, वनपर्व, अध्याय 313, श्लोक 117 ; वर्तमान संस्करणों में **मुनिर्यस्य** के स्थान पर **ऋषिर्यस्य** शब्द है। यक्ष पूछते हैं कि मार्ग क्या है ? युधिष्ठिर का उत्तर था — "तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ (सुना हुआ) भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाए तथा धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है; अत: जिससे महापुरुष जाते रहे, वही मार्ग है।"

10. दण्डीजी विभिन्न सम्प्रदाय चलाने के विरुद्ध थे। तब केवल वैष्णवों के ही बीस, शैवों के सात तथा शाक्तों के चौदह मुख्य सम्प्रदाय थे (द्रष्टव्य: इन्द्र विद्यावाचस्पति, आर्यसमाज का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 57, 58)।

11. स्पष्ट है कि दण्डीजी व्याकरण शास्त्र पढ़ाते समय वेदादि के उदाहरण देने का विधान करते हैं। मानना चाहिए कि वे स्वयं भी वेदों से उदाहरण देकर पढ़ाते होंगे। अत: **स्वामी दयानन्द को पढ़ाते समय वेद-चर्चा स्वाभाविक है।**

12. यह संकेत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दण्डीजी के आविर्भाव से लगभग 2200 वर्ष पूर्व भारत में बौद्धमत का विकास हुआ था। बुद्ध ने काशी आकर स्वकल्पित 'धर्मचक्र' चलाया था।

13. अर्थात् श्री कृष्ण परस्त्रीगामी और व्यभिचारियों में शिरोमणि हैं। कृष्ण जी के एक सहस्र नामों में से दो नाम **गोपालकामिनीजार:** तथा **चौरजारशिखामणि** बताए गए हैं।

14. गुरु तथा शिष्य के चिन्तन में एकरूपता है। दयानन्द सरस्वती लिखित 'भागवत-खण्डनम्' में श्रीमद्भागवतपुराण की अनेक व्याकरण अशुद्धियाँ तथा महाभारत के विरुद्ध लेख दिखाए गए हैं। इसमें वेद, व्यास, शंकर, कृष्ण, अर्जुन, सुभद्रा, ऋषि और महात्माओं की निन्दा की गई है। शिवपूजनसिंह कुशवाह ने 'श्रीमद्भागवत महापुराण में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ' नामक कृति में भागवतपुराण में 786 अशुद्धियों की चर्चा की है।

15. श्रीमद्भागवतपुराण, दशम स्कन्ध, अध्याय 22, श्लोक 16-22; इस अध्याय का शीर्षक ही चीरहरण है। इस स्कन्ध के अध्याय 33 के श्लोक 13 व 18 आदि ऐसे ही हैं। योगेश्वर कृष्ण के पवित्र जीवन के साथ भागवतपुराण के इस अश्लील प्रेमालाप का मेल नहीं बैठता। पण्डित मुकुन्ददेव ने भी दण्डी जी द्वारा भागवतपुराण के तिरस्कार का यही मुख्य कारण लिखा है (दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक रामप्रकाश, पृष्ठ 73-74)।

16. अर्थात् "महापुरुष जो-जो आचरण करता है, सामान्य व्यक्ति उसी का अनुसरण करते हैं। ... हे पार्थ! सभी मनुष्य मेरे पथ का ही अनुगमन करेंगे" (गीता, 3: 21, 23)।

17. मुकुन्ददेव ने इस विवरण पत्र में इससे आगे निम्नलिखित चौदह श्लोक और लिखे हैं (द्रष्टव्य : मुकुन्ददेव, दण्डी जी की जीवनी, सम्पादक रामप्रकाश, पृष्ठ 86, 87) --

काशयो नाम राजानस्तेषां जनपदस्तथा।

वाराणसी काशिष्विति शास्त्रेणाख्यायते पुरी।।५

काश्यां मरणतो मुक्तिः प्रयोगः पामरैः कृतः।

एतेन ज्ञायतां तद्वै पुस्तकं नर्षिणा कृतम् ।।६

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य पुस्तकं नोपपद्यते।

प्रत्यक्षेणानुमानेन जगत्सर्वं प्रवर्तते।।७

मीमांसापूर्वकं शास्त्रं सुन्यायान्तं समाप्यते।

पुस्तकोत्थो वृथैवातो न्यायमीमांसयोः पृथक्।।८

कणादो नाम्न नैवास्ति मुनिः कश्चित् स्म पौस्तकः।

नैव चाप्यक्षिपात्कश्चित्पदार्थान् सप्तकोऽब्रवीत्।।९

सप्तैव चेत्पदानि स्युः षोडशैव पदानि वा।

सप्तोक्तिः षोडशोक्तिर्वा पदार्थानां तदा भवेत्।।१०

ऋषिर्वै गोतमो नाम सोशुद्धं निष्प्रयोजनम्

पुस्तकं नैव कुर्वीत यन्नाद्यापि समाप्तिमत्।।११

वेदस्यान्तो हि वेदान्तः स वेदान्न बहिर्भवेत्।

पाराशरिर्ब्रह्मसूत्रैर्मीमांसा तस्य पौस्तकी।।१२

पुस्तकं खल्वधिष्ठानं विद्याया ऋषिणा कृतम्।

नृभिर्नाशः समाप्तेः स्यात्क्रियेरन्पुस्तकानि चेत्।।१३

श्रूयतामद्भुतां वार्त्तां बुद्धिमद्भिर्जनैरियम्।

प्रमाणमृषिरेवास्तु मत्कृतं चास्तु पुस्तकम् ।।१४

त्वत्कृते पुस्तके विद्वन्! त्वं प्रमाणं न चेद्भवेः।

अधीयीथा ऋषेरेव पुस्तकं पाठयेस्ततः।।१५

अध्ययने पुण्यः पाठो विद्यावाप्तिरनन्तरा।

ऋषीणां पुस्तकेष्वेव न मनुष्यकृतेष्वलम्।।१६

अध्येतव्यं कथं बालैर्गूढार्थमृषिपुस्तकम्।

तत्पुस्तकोपकाराय क्रियते पुस्तकान्तरम्।।१७

सोऽध्यगीष्ट कथं बालो गूढार्थमृषिपुस्तकम्।

नाधीतं यदि तेनापि सत्यमुक्तं धिगस्तु तम्।।१८

इन 5 से 18 श्लोकों का अर्थ न दण्डी जी का किया उपलब्ध है, न पण्डित मुकुन्ददेव ने किया है। इन चौदह श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है--

काशय नामक राजा तथा उनका जनपद वाराणसी शास्त्रों के द्वारा काशी पुरी के नाम से जाना जाता है। 5।

काशी में मरने से मुक्ति मिलती है ऐसा कथन पामरों ने किया है। इसी से ही जान

लीजिए कि निश्चय से ही उस पुस्तक को ऋषि ने नहीं लिखा है।6।

प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण के लिए कोई पुस्तक प्राप्त नहीं होती। प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण से सारे जगत् के प्रवर्त्तन का ज्ञान होता है।7।

शास्त्र मीमांसा से प्रारम्भ होकर न्याय दर्शन पर समाप्त हो जाता है। अत: न्याय और मीमांसा से पुस्तकोत्थ अलग है और व्यर्थ है।8।

कणाद नाम का मुनि कभी भी पौस्तक नहीं था और न ही अक्षिपाद (गोतम) ने सात पदार्थों का कथन किया है।9।

यदि सात ही पद या सोलह ही पद हों तभी पदार्थों के विषय में सात या सोलह का कथन हो सकता है।10।

निश्चय से ही गोतम ऋषि निष्प्रयोजन व अशुद्ध पुस्तक नहीं करते, जो आज भी समाप्ति वाली नहीं है (अर्थात् उसकी आज भी आवश्यकता है)।11।

वेद का अन्त ही वेदान्त है; वह वेद से बाहर नहीं है। पाराशरी ब्रह्मसूत्रों द्वारा उसकी मीमांसा पौस्तकी है (अर्थात् पराशर के पुत्र पाराशर (वेद व्यास) ने ब्रह्मसूत्र की रचना कर जो वेदान्त की व्याख्या की है, वह पौस्तक है)।12।

पुस्तक विद्या का स्थान होती हैं और वह ऋषिकृत होती हैं। यदि सामान्य मनुष्य पुस्तकों की रचना करते हैं, तो वह नाश और समाप्ति है।13।

(जो मनुष्य ऋषिकृत पुस्तक को तो प्रमाण मानते हैं पर अपनी बनाई पुस्तक का प्रचलन भी करते हैं और इसके लिए हेतु देते हैं कि उन्होंने गूढ़ अर्थ समझाने के लिए दूसरी पुस्तक बनाई है--ऐसी आश्चर्यजनक उक्ति के विषय में दण्डी जी कहते हैं--)

बुद्धिमान् लोग इस आश्चर्यजनक समाचार को सुनें -- प्रमाण तो ऋषिकृत पुस्तक ही रहे और मेरी बनाई पुस्तक भी रहे।14।

हे विद्वन्, आपके किए पुस्तक के विषय में यदि आप प्रामाणिक नहीं हैं (या न हो सकें) तो ऋषि की पुस्तक को ही पढ़िए और बाद में उसे ही पढ़ाइये।15।

ऋषियों की पुस्तकों के पाठ से पहले पुण्य और बाद में विद्या की प्राप्ति होती है। मनुष्यकृत पुस्तकें इन फलों की प्राप्ति करवाने में समर्थ नहीं हैं।16।

बालकों द्वारा गूढ़ अर्थ वाली ऋषिकृत पुस्तक कैसे पढ़ी जाए? (यदि कोई ऐसा कहे कि) इसलिए पुस्तक के उपकार के लिए दूसरी पुस्तक की जा रही है।17।

(तो) गूढ़ अर्थ से युक्त ऋषि की पुस्तक को वह (पहला) बालक कैसे पढ़ सका? यदि उसने सत्य कहा कि उसने भी उसे नहीं पढ़ा, तो उसको धिक्कार है।18।

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि दण्डी जी अनार्षग्रन्थों के साथ-साथ रूढ़ियों और अन्धविश्वासों (जैसे काशी में मरने से मुक्ति मिलना) का भी खण्डन करते थे। पौराणिक विश्वास है कि काशी में मरने से मुक्ति मिलती है --**काश्यां मरणान् मुक्तिः**। दण्डी जी दर्शन शास्त्रों के मर्मज्ञ भी थे।

परिशिष्ट 4 : दण्डीजी का जयपुर नरेश को पत्र

॥श्रीः॥ अनन्तश्रीर्विजेषीष्ट सार्वभौमः पतिर्नृणाम्।
नियुंजिताखिलान्धर्मे जयशब्दे यः पुरे वसन्॥१॥[1]

च्यार (चार) सम्प्रदाय[2] की रीति मिटे॥ वैदिक धर्म[3] की प्रवृति होवे।। इस बात का उपाय आप कछु जाणते हो तो श्री हजूर (जयपुर नरेश सवाई रामसिंह) के पास पत्र लिख भेजो। यह बात परमसुख[4] ने लिखी। इस बात का उपाय हम जाणते हैं। अर (और) हजूर के किये से हो सकता है। रूवरू (आमने-सामने) आप सुणें तो समझ में आ जावे॥ परन्तु परमसुख की जुबानी लिख भेजणे का हुकम हमारे पास आया है तिस्सें लिखते हैं। यही उपाय हो सकता है कि हमकूँ (हमको) अपने रूवरू बुलावो क्यूँकि सड़क (मुख्य मार्ग) का ही वनोवस्त (बन्दोबस्त) आप कर सकते हो॥ मत भजन सप्रंदाय जो जिसने धारण कर लिया वो दूसरे की बात सुणे नहीं। उस बात की चर्चा वी (भी) नही करे, उस बात कू अपने घर की समझे हे (है)। सड़क वजार का हि हाकम (राजा) वनोवस्त कर सकता हे किसी के घर का वनोवस्त करने में हाकम का अख्त्यार (अधिकार) नहीं।[5] संस्कृत जुवान की सड़क व्याकरण हे। जब राजा की आज्ञा कूँ उल्लंघन करके कोई शस्त्र पकड़ता है तव प्रजा में गदर (अव्यवस्था) हो जाता है। जब व्याकरण की आज्ञा कूँ उल्लंघन करके मनुष्य अपने नाम की पुस्तक जारी करते हें तव धर्म मार्ग में गदर हो जाता है॥ मनुष्यकृत अनेक संप्रदाय उपद्रव खड़े हो जाते हें। राजा जब शस्त्र अपना तेज करता हे तव प्रजा का गदर दूर होता हे। वैयाकरण जव व्याकरण पुस्तक में दखल (अधिकार) पा करके शब्द शास्त्र कूँ तेज करता हे तव अनेक संप्रदाय पुस्तक उपद्रव दूर हो जाता है। क्यूँकि वैयाकरण संस्कृत जुवान में जगद्गुरु हे, उसका वचन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र[6] सव कोई प्रमाण करते हें। व्याकरण पुस्तक में दखल पाकर के संस्कृत जुवान के मालिक हम हें॥[7] जो ओर किसी ने वी व्याकरण पुस्तक में दखल पाया होता तो ऋषि पुस्तक में अनृषि लेख मिलके संकीर्ण पुस्तक जारी न होते।[8] ओर (अन्य) मनुष्य वी अपने अपने नाम के व्याकरण पुस्तक क्यों वनावते। सभा में हाकम के सामने जो वात हम

कहेंगे उस वात कूँ अन्यथा करने वाला कोई पुरुष सर्व भूमि में नहीं।

पुस्तक विना संप्रदाय किसी का नहीं होता। च्यार संप्रदायवालेन के पुस्तक अगर संस्कृत में होंयगे तो उनकूँ हमारी कही वात क़वूल करनी पडेगी। क्यूँकि जिस पुस्तक में हमने दखल पाया है उस पुस्तक का प्रमाण न मानने वाला हाकम के रूवरू झूटा हो जाता है, या सूँ हमारी कही सभासद क़वूल करेंगे॥ हाकम क़वूल करेगा मुद्दायले (प्रतिवादी अर्थात् चारों सम्प्रदाय के लोग) वी क़वूल करेगा॥ हम जानते हें के (कि) वेरागीन (वैरागियों) के च्यार सम्प्रदायन का संप्रदाता (संस्थापक) ऋषि कोई वी नही जितने इनके देव-भाषा (संस्कृत) में संप्रदाय पुस्तक वने हें सो सब अशुद्ध हें। यही वात हाकम के सामने उनकूँ क़वूल क़रिवा करके पुस्तक उनके रद्दी करवा दिये जायेगे। ओर सरकार में रद्दी लिखवा दिये जायेगे॥ जव यह वात होगी तव उनके जे (जो) शिष्य हें उनकी अश्रद्धा हो जायगी। ओर अगारी (आगे) कोई उनका शिष्य न होगा तव आपही च्यार संप्रदाय की रीति मिट जायगी।

परन्तु वेरागीन के च्यार ही तो संप्रदाय नही। वेरागीन के तो असंख्यात संप्रदाय हें। गुजरात में स्वामीनारायण[9] नाम करके नया संप्रदाय जारी हुवा हे उन लोगन की तलवी (बुलावा) नहीं हो सकती रूवकारी विना इन्साफ केसे हो सके॥ एक वात तो हो सकती हे, क्या, कि व्याकरण पुस्तक सर्वभूमि का एक हे॥ संस्कृत जुवान का संस्कार व्याकरण पुस्तक करके हो सकता हे इस पुस्तक में गदर दूर करने से ऋषि पुस्तक मात्र में गदर न रहेगा॥ जब राजा समर्थ (विद्वान्) कूँ समर्थ करे तव झूटे संप्रदायन की रीति आप हि मिट जाय॥ व्याकरण पुस्तक में दखल पाकर के ब्राह्मण समर्थ होते हें। या तें ब्राह्मण हि समर्थ किये चाहिये। जब सें ब्राह्मण व्याकरण पुस्तक में वेदखल हुये हें तवी (तभी) से ऋषि पुस्तकन में गदर हुवा हे ओर तवी से अनृषि संप्रदाय चले हें॥ आर्यावर्त का धर्म ऋषि पुस्तक में हे। चारो वर्ण ऋषि पुस्तक का प्रमाण मानते हें। ऋषि पुस्तक देवभाषा में हे। देवभाषा के शब्द संस्कार के वास्ते ओर (और) अर्थ संस्कार के वास्ते ओर विचार के वास्ते व्याकरण पुस्तक व्याकरण का सूत्र पुस्तक दोनूँ पुस्तक (अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य) मुकरर हें। इनमें दखल पाया चाहिये सो वे ऋषि कूँ अपना टीका तिलक देकर के शिष्य करने वाला कोई नहीं॥ वेदिताध्यापक इन दोनूँ पुस्तकन के साथ होइ तो पुस्तक जगते बोलते हें॥ ओर न होंय तो फिर सोते हें। जब इन दोनूँ पुस्तकन में कोई

मनुष्य दखल पावता हे तव ए दोनूँ पुस्तक जगते वोलते हो जाते हैं। एक के दखल पाने से हजारन दखल पा जाते हैं। ऋषि किसी ने देखे नही[10] ऋषि कृत पुस्तक देखे जाते हैं ऋषि पुस्तक ऋषि हैं ऋषि पुस्तक में हुकम ऋषि का हे। देवभाषा संस्कृत जुवान जितनी ऋषि ने लिखी हे उतनी ही रहती हे। समझणे वाले की जुवान कागज में नही चढती या सें टीका करने वाले पागल हैं॥[11] तीन कु पुस्तक व्याकरण में कत्रि[12] लिखे हैं। ओर तीन सत्पुरुष सत्रि होते हैं पुस्तकस्थ ऋषि सद्गुरु हे और जो पुस्तक में दखल पाकर के पढावे सो सत्पुरुष गुरु हे। गुरु सेवापूर्वक ऋषि पुस्तक में दखल पावने वाला संदतेवासी हे ए तीनूँ सत्पुरुष सत्रि[13] हैं। जो ऋषि पुस्तक में परोपकार के वास्ते अपना पुस्तक बनावता हे सो कुपुरुष हे और जो उसके बनाये पुस्तक को पढावता हे वो दूसरा कुपुरुष हे और जो पढता हे वो तीसरा कुपुरुष हे। ए तीनूँ कुपुरुष व्याकरण में कत्रि लिखे हैं। सो वे तीनू निगुरा हैं क्यूँ कि शिष्य का ओर गुरु का सद्गुरु ऋषि पुस्तक होता हे। ऋषि पुस्त(क) में अनृषि लेख मिलने से संकर हो जाता हे॥ असंकीर्ण ऋषि पुस्तक प्रमाण होता हे। असंकीर्ण ऋषि पुस्तक तीनून (तीनों) का सद्गुरु नही रहा यातें तीनू निगुरा कत्रि हो गये। कत्रि से जारी हुये पुस्तक कात्रेयक (कुत्सित) होते हैं। कत्रि के पुस्तक न रहने पावे ये व्याकरण (अष्टाध्यायी) षष्ठाध्याय तृतीय पाद में हुकम हे। सो यह वात हे कि जगत में तो वाराणसी प्रमाण हो रही हे। राजा रहीस सेठ साहूकार सव वाराणसी का प्रमाण मानते हैं॥ ओर वाराणसी वालेन के सव पुस्तक कात्रेयक हो रहे हैं। जब उन पुस्तकन कूँ रद्दी करदे ओर व्याकरण पुस्तक वाराणसी वालेन कूँ ग्रहण करावें तव भागवत का ओर च्यार संप्रदाय का मत ही न रहें। वैदिक धर्म की प्रवृत्ति करवे में ब्राह्मण समर्थ हो जायें, यही वात हजूर कूँ अभीष्ट हे सोई फिर हो जाय॥

पहली मनुष्य की मनुष्य भाषा सर्वभूमि की जुदी जुदी हे॥ मनुष्य भाषा का कायदा (नियम) मनुष्य जानता हे। दूसरी सर्व भूमि की एक ही देव वेद भाषा ईश्वर ने ऋषि कूँ दी हे[14] उसका कायदा ऋषि जानता हे॥ ऋषि मनुष्य लोक में सदा नही रहता। पुस्तक ऋषि का मनुष्य लोक में रहता हे। लेखक, अध्येता, अध्यापक, कविता करणे वाले मनुष्य इनके दोष सें देव भाषा में संकर न हूण पावे इस वास्ते सो पक्ष सोपक्रम (उपक्रम सहित) साध्यापक (अध्यापक के साथ) व्याकरण पुस्तक देवभाषा की रक्षा के वास्ते सूर्योदय होता रहता हे॥

तव देवभाषा में अंधकार नही रहता हे॥ कविता करने वाले मनुष्यन के पुस्तकन में देव भाषा का गदर दीखे हे॥[15] क्यूँकि पुरी का नाम वाराणसी हे उनके पुस्तकन में काशी शब्द दीर्घ स्त्रीलिंग दीखे हे॥ पुरी का नाम उज्जयनी हे उनके पुस्तकन में अवंती शब्द दीर्घ स्त्रीलिंग दीखे हे॥ काशि अवंति चेदि इत्यादि शब्द जनपद विशेष वाची क्षत्रिय विशेष वाची पुल्लिंग होते हें॥ जब व्याकरण सूर्योदय नही होता उस रात में कविता करणे वालेन के पुस्तक ओर ऋषि पुस्तक येक (एक) से ई (ही) दीखते हें॥ कविता करणे वाले कविता अपनी करते हें ऋषि का नाम धरते हें॥ फेर (फिर) दूसरे कविता वाले उन पुस्तकन के ऊपर टीका तिलक करते हें॥ जव व्याकरण सूर्योदय होता हें तव कविता करणे वालेन के ग्रंथ अशुद्ध दीख जाते हें जेसे दुग्ध में मखी॥

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

मिताक्षरा[16] का यह मूल श्लोक हे, यह श्लोक डित्थ[17] की कविता हे॥

अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि।
चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः॥[18]

यह श्लोक डांभिद[19] की कविता हे, मिताक्षरा में लिखा हे॥ डित्थ डांभिद कोन होते हें? सेखचिल्ली लालवुजक्कड कोई हें उनके तुल्य वेअकल आदमी व्याकरण में डित्थ डांभिद लिखे हें। इस तरह के मनुष्यन के वणाये धर्मशास्त्र पुस्तक मिताक्षरा वीरमित्रोदय[20] इत्यादिक नाम करके अनेक पुस्तक हें। एसे पुस्तकन कूँ पढ के धर्मशास्त्री सदर (मुख्य) पंडित कहाते हैं और वड़ी वड़ी तनखा (वेतन) पाते हैं। अवछेदकावच्छिन्न[21] शाव्दीभावना आर्थीभावना स्फोटवाद[22] अन्विताभिधानवाद[23] अभिहितान्वयवाद[23] शक्ति लक्षणावाद इत्यादिक डित्थ पुस्तकन में बहुत ही वकवाद हैं। उन पुस्तकन कूँ पढ करके राजान के शास्त्री कहाते हैं। डित्थ पुस्तकन की वात राजान के कान परती (पड़ती) रहती हे। यातें राजा वी डित्थ हो जाते हैं। वे डित्थ पुस्तकन वारे शास्त्री राजान के ओर सेठ साहूकार लोगन के गुरु हो जाते हें। फिर वेई डित्थ शास्त्री सेठ साहूकार लोगन से प्रतिष्ठा पाकर के दुनियां कूँ डित्थ करते हें, जेसे राधाकृष्ण का गुरु व छेदकावछिन्न रंगाचारी॥ व्याकरण पुस्तक अष्टाध्यायी महाभाष्य वाराणसी में अर सर्व भूमि में प्रमाण हे। उसमें दखल पाकर के संस्कृत जुवान के मालिक हम हें। जितने संस्कृत जुवान में डित्थ पुस्तक जारी

हो रहे हें सो सब हमने रद्दी किये। राजसभा में राजा के सामने वाराणसी में अर सर्व भूमि में उन पुस्तकन के रद्दी करने में उजर करने वाला कोई नहीं हे। जब हजूर वाराणसी को तशरीफ ले गए थे, उस वखत (समय) हम साथ होते तो डित्थ पुस्तक ओर भागवत ओर च्यार संप्रदाय का मत अब तलक रफे दफे (समाप्त) हो जाता॥ हरचंद (दिल्ली का पण्डित हरिश्चन्द्र) कूँ साथ ले जाणे का प्रयोजन कुछ नही था उसने वी डित्थ पुस्तक हि देखे हें। वनारस वालेन का ही चेला वो व्याकरण पुस्तक में दखल उसका वि नही॥[24]

संप्रदाय क्या चीज हे ? जो पंथ चल जाणे का नाम संप्रदाय हे तो दादू पंथी कवीर पंथी नानक पंथी इत्यादिक सेकरन (सैकड़ों) पंथ चल गये हें॥ वे संप्रदाय क्यूँ नही कि उनके पुस्तक देश भाषा में हें, देवभाषा में नही, याते उनका संप्रदाय नही तो फिर चक्रांकितन का द्रविड वेद वी तो शठकोप[25] शूद्र ने देश भाषा में ही वनाया है॥ वो संप्रदाय पुस्तक केसे हो सके जो कि ये बात हे कि पीछे करके उसी पंथ में रामानुज वगेरा ब्राह्मण चेला हो गए हें। उनमें शठकोप का भत (मत) देव भाषा में कर दिया हे या तें वो वी संप्रदाय है। तो फिर नानक दिग्विजय पुस्तक वी तो वाराणसी के पंडितों ने बना दिया है। ओर रामानुज दिग्विजय पुस्तक वी वन रहा है फिर रामानुज संप्रदाय की तरा (तरह) नानक संप्रदाय भी क्यूँ न गिना जाय। ये कुछ वात नहीं, वात ओर हे, ऋषि पुस्तकस्थ ऋषि की देवभाषा प्रमाण होती हे। मनुष्य ने ऋषि पुस्तकन का गंध लेकर के देवभाषा में पुस्तक बना लिया सो संप्रदाय पुस्तक नहीं वाजे। रंगाचारी अर हरचंद ये दोनूँ धूर्त हें। वनारस में न्याय करावे कूँ गये। बनारस में हाकम कोन था कि जो दोनू तरफ की जीत हार दफ्तर में दाखल करके सच्चे कूँ जय पत्र दे देता॥ ऋषि पुस्तक में हुकम ऋषि का हे। उसी पुस्तक में दखल पाकर के ऋषि का हुकम ले आदमीन के रूवरू सुनावे वो सत् पुरुष हे उसका वचन सव कोई प्रमाण करे॥ ओर वनारस के पंडित चोर हें क्यूँकि अष्टाध्यायी महाभाष्य का हुकम कुवुद्धि कौमुदी ये सुनावते हें॥ और धर्मशास्त्र का हुकम पुरुषकृत टीकान में सुनावते हें। नदिया शांतिपुर के वंगाली लोगन ने अपने वनाये (अ)वच्छेदकावच्छिन्न वाद का नाम न्यायशास्त्र धरा हे। वे पुस्तक वनारस के पंडित पढते पढावते हें ज्या (जिस) से वे लोग डित्थ वी हें। मुग्धबोध व्याकरण और भागवत पुराण ये दोनू मिथ्या पुस्तक वोपदेव वंगाली ने वणाये हें।[26]वंगाल भर में मुग्धबोध मिथ्या व्याकरण पुस्तक पढते हें।

वनारस के लोग और च्यार संप्रदाय के लोग भागवत डित्थ पुस्तक कूं प्रमाण करते हें॥ ओर वो पुस्तक व्याकरण सें सर्वथा विरुद्ध,[27] लोकवेद विरुद्ध, भगवद्गीता से विरुद्ध ओर महाभारत की कथान से विरुद्ध हे॥ उसके प्रमाण करने सें च्यार संप्रदाय वाले ओर वनारस के लोग अलवत्ते ऋषि पुस्तक के चोर हें। संकीर्ण पुस्तकाभ्यास करके संस्कृत वोलना उनकूँ आय जाता है। अपनी प्रतिष्ठा के वास्ते नवीन ग्रंथ रच लेते हें। द्रव्य प्राप्ति के वास्ते ओरन के वनाये पुस्तकन पे अपनी सही संभति (सम्मति) कर देते हें। अनर्थक संस्कृत जोड करके केसा ही अशुद्ध पुस्तक वना के उनके पास ले जावो॥ ओर उनकूँ रूपा (रुपये) देने करो तो उसी की टीका वना देते हें। शब्द संस्कार ओर अर्थ संस्कार संस्कृत जुवान का व्याकरण सें होता है। सो उनकूँ मालूम नही क्यूँकि व्याकरण पुस्तक में वेदखल हें॥ अर यह वात वी वे लोग नही जानते कि अनर्थक अशुद्ध संस्कृत जोड के किसी ने पुस्तक वनाया अर वनावणे वाला मर गया पीछे उस पुस्तक के खंडन के वास्ते दूसरा पुस्तक नही वनता अर मंडन के वास्ते वी दूसरा पुस्तक नही वनता। उस पुस्तक के मुद्दई मुद्दायले की रूवकारी सभा में राजा के सामने हो जाती हे। सभा में जिस पुस्तक का विजय होय राजा की तरफ से पुष्प चंदन टीका तिलक उस पुरुष के मस्तक पे होता हे॥ पुस्तक का मस्तक अवयव कहाँ हे जिसमें टीका काढे अथवा तिलक लगावे। टीका तिलक जिस चीज का नाम हे उसी चीज का नाम है॥ लिखने वाला लिख करके मर गया उसके ऊपर फेर (फिर, पुनः) लेख करने का नाम तो टीका तिलक नही होता। अशुद्ध होय तो सभा में रद्दी कर दिया जाय अर काम का होय तो पढने पढावणे में आवे यही वात हो सकती हे॥ सुनते हे कि संप्रदाय के विषय में वनारस के पंडितन से सभा में राजा ने पूछा था॥ पंडितन्न ने कहा कि रामनिरंजन दंडी[28] जो कहे सो हमकूँ क़वूल हे॥ रामनिरंजन दंडी ने सभा में कहा कि दोनूं मत सनातन हें। उनसे पूछा चहिये कि दोनूँ मत सनातन हें तो दोनों मत के पुस्तक वी तो सनातन चहिये। मत की स्थिति तो पुस्तक विना नही होती हे॥ मत अनादिकाल के हे परंतु पुस्तक में तो ऋषि की तदाद्याचिख्यासा होती हे॥ जिस ऋषि से जो पुस्तक जारी हुआ वो सनद पुस्तक हे। विसमें दूसरे का लेख होकर गदर न हो जाय इस वास्ते ऋषि पुस्तकन तदाद्याचिख्यासा होती है॥ वीच में गदर करके संस्कृत जुवान में किसी ने वैष्णव मत का पुस्तक वनाय लिया वो पुस्तक तो सभा में रद्दी किया चहिये।

उसके रद्दी किये विना सर्वथा धर्म का नाश होता हे॥ यह वात हे कि द्रविड देश में शठकोप शूद्र हुवा हे उसने द्रविड देश की भाषा में प्रबंध पुस्तक कोई वनाया॥ आप ही तप्तमुद्रा वणा (बना) करके अपने शरीर कूँ दागा॥ ओर लोग वी हीन जाति दाग दाग करके उसने चेला किये। ओर पंथ चलता चलता वढ गया। ब्राह्मण लोग वी उस पंथ में चेला होवे लग गये॥ वेदी रच लेते हें तप्तमुद्रा से आदमीन कूँ दाग दाग के मुद्रा दुग्ध में बुझा लेते हैं त्वग्रुधिर मुद्रा दूषित दुग्ध उन आदमीन कूँ पिवा देते हें॥ वे आदमी श्री वैष्णव वाजते हें शठकोप का पंथ रामानुज का संप्रदाय। उनके पुस्तकन में लिखा हे कि जो ब्राह्मण तप्त मुद्रा दग्ध नहीं होता वो चण्डाल हे॥ इससे क्या वात साबूत हुई कि तप्तमुद्रादग्ध नही सो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र वैरागी सव चण्डाल हें॥[29] उनकी रीति सें संप्रदाय दो ठेरते हैं दग्ध होय सो वैष्णव न दग्धांग होय सो चण्डाल॥ इस वात में भागवत का श्लोक प्रमाण देते हें। उनके पुस्तकन की वात सच्च मान करके रीमा (रीवा) वाला राजा वी चेला हो गया॥ शठकोप रामानुजीय पुरुष जवरदस्त हें च्यार वर्णन (चतुर्वर्ण) कूँ वेदी में वरावर वेठाकर के दागे हें। चतुर्वर्ण चर्मरुधिर संपृक्त दुग्ध उनकूँ प्याते हें॥ ब्राह्मण शर्मा, क्षत्रिय वर्मा, वैश्य पालित, शूद्र दास, च्यारन कूँ दासोस्मि वादी करके छोड़ते हें॥ इसी तरह राजा कूँ वी वेदी में वेठाया होयगा ओर वी प्रतिष्ठित रजपूत उनके साथ वेठे होंयगे अर सबकी यही दुर्गति उनोनें की होयगी। अव वे लोग प्रायश्चित करे तव शुद्ध होंय। वनारस के रामनिरंजन दंडी असे पाखंड कूँ सनातन मत वताते हें तो अलवत्ते भागवत पुराण के परम हंस हें॥ राजा रईस सेठ साहूकार अनेक धनाढ्य पुरुष पाखंड संप्रदाय जाल में ज्यानवर (पशु) फंस रहे हें। उनी कूँ जव प्रतीति आजावे कि यह मत पाखंड जाल हे, सनातन धर्म नहीं तव इस जाल में सें छूटें। अर उनके साथ हम मत की चर्चा करे तो वे हमारी वात नही सुने॥ एक राह तो हे कि जितने मत हें वे सव पुस्तकस्थ होते हें, ऋषि पुस्तकन में जुवान संस्कृत होती हे॥ अर संस्कृत में प्रमाण व्याकरण होता हे॥ व्याकरण पुस्तक सव ऋषि पुस्तकन का एक हि होता हे। उसमें दखल पाकर के हमने जाणी कि एक व्याकरण पुस्तक में जो अनेक पुस्तक वण गये सो सड़क में गदर हो गया। राजसभा में राजा के सामने इन पुस्तकन कूँ रद्दी करने में कोई उजर नहीं करेगा। मत मजव (मजहब) संप्रदाय जो जिसने धारण कर लिया सो कर लिया उस वात की सभा न हो सके न राजा करे॥ व्याकरण पुस्तक में

तो किसी के मत मजव की बात नहीं संस्कृत जुवान की सड़क क्रांत अष्टाध्यायी व्याकरण पुस्तक सर्वभूमि का एक हे इसके अनेक पुस्तक वण जाणे सें व्याकरण में गदर हुआ हे उसके दूर करने के वास्ते सभा हो सकती हे अर राजा इनसाफ कर सकता है॥ जव सभा में अनिष्ट पुस्तक रद्दी कर दिये जायगे तव व्याकरण विद्या व्याकरण पुस्तक में ठेर जायगी अर जो व्याकरण पुस्तक में दखल पावे जगद्गुरु ठेर (ठहर) जायगा॥ अर राजा रईस सेठ साहुकार अनेक धनाढ्य पुरुष उसकी कही वात कूँ प्रमाण करेंगे वे लोक पाखंड मत में श्रद्धा वी छोड़ देंगे॥ जव महाभाष्य में दखल पाकर के ब्राह्मण जगद्गुरु होते थे तव पुस्तक में गदर नहीं था॥ अव पुस्तकन में गदर हे।। अव भाष्य (महाभाष्य) में दखल पाकर हम जगद्गुरु हैं। पुस्तकन का गदर दूर किया चाहते हैं॥ महाभाष्य का पुस्तक लेकर जो राज सभा में हम कहेंगे उस बात कूँ अन्यथा करने वाला नही हे॥ आप नरदेव हैं जो धर्म मर्यादा आप स्थानें करेंगे सोई ठेरेगी। आपकी इच्छा होय तो सार्वभौम-सभा करो। खर्च उसमें कुछ नहीं पडेगा केवल नीति से सार्वभौम सभा हो जाती हे॥ उपाय हम जानते हैं सव अरज कर सकते हैं॥ अथवा जयपुर के पंडितन की सभा हमारे रूवरू हो जाय। अथवा अष्टाध्यायी महाभाष्य प्रवृत्ति के निमित्त विद्यार्थीन के वास्ते हमारा अन्न जेसा मुनासब जाने तेसा कर देनी चहिये। अपने पंडित कूँ यह हुकम दे देना चहिये अष्टाध्यायी महाभाष्य पढे अष्टाध्यायी महाभाष्य की प्रवृत्ति के लिये हम कूँ वात कवूल हे कि जहाँ आप रक्खे वहां ही हम रहें हमारी आप सहायता करेंगे तो जो आपने विचारी हे सव सिद्ध होवेगी।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. अर्थात् श्रीः, अनन्तश्री विभूषित सार्वभौम नृपति जयपुर निवासी अखिल लोक को धर्म में नियोजित करने वाले के प्रति

2. चार सम्प्रदायों से अभिप्राय वैष्णवों के रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदायों से है। इन सम्प्रदायों के प्रवर्तक क्रमशः रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा विष्णुस्वामी थे। वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी द्वारा स्थापित मत का प्रचार किया। इन चारों को आचार्य माना गया है, न कि ऋषि।

3. दण्डीजी ने **वैदिक धर्म** शब्द का प्रयोग किया। बाद में इस शब्द को आर्यसमाज ने अपनाया और प्रचारित किया।

4. ब्रजमोहन जावलिया के अनुसार परमसुख दण्डीजी का अलवरकालीन शिष्य प्रेमसुख ही है। वह जयपुर की धर्मसभा (मौज मन्दिर) का सदस्य रहा। उसने विक्टोरिया-चरित में अपना परिचय दण्डीजी के शिष्य के रूप में दिया है (परोपकारी, मार्च 1995, पृष्ठ 90)।

5. अर्थात् लोग मत, उपासना एवं पूजा पद्धति को निजी विषय मानते हैं।

6. अत: दण्डीजी चतुर्वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र) को मानते थे। मनु ने यह विभाजन कर्म के आधार पर किया था, न कि जन्म के।

7. दण्डीजी के समान उस समय अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य का विद्वान् भूतल पर नहीं था। उन्हें स्वयं भी ऐसा विश्वास था।

8. सम्भवत: दण्डीजी से पूर्व किसी मनीषी ने आर्षग्रन्थों में मिलावट अर्थात् प्रक्षिप्त अंशों का मुद्दा नहीं उठाया। दण्डीजी के इस मौलिक विचार को कालान्तर में ऋषि दयानन्द ने विस्तार दिया।

9. मूलत: अयोध्या निवासी सहजानन्द द्वारा स्थापित स्वामीनारायण मत गुजरात में अधिक प्रचलित हुआ था। ऋषि दयानन्द ने इस मत के खण्डन में शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण पुस्तक लिखी थी। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में वैष्णवमत, शैवमत, कबीरपन्थ, नानक पन्थ, दादू पन्थ, रामस्नेही मत तथा स्वामीनारायण मत आदि की सविस्तार समालोचना की गई है।

10. उस समय कोई ऋषि जीवित नहीं था। दयानन्द सरस्वती को ऋषि पद प्राप्त होना अभी शेष था।

11. दण्डीजी ऋषिकृत ग्रन्थों पर केवल ऋषियों द्वारा भाष्य लिखने के पक्षधर थे, न कि सामान्य मनुष्यों द्वारा टीकाएँ, अत: ऐसे सामान्य व्यक्तियों को मूर्ख, कुपुरुष, कत्रि, दम्भी, चाण्डाल, पामर, पागल एवं ब्रह्महत्यारे कहा है।

12. सूत्रक्रम तोड़ने वाले वैयाकरण, उन द्वारा रचित पुस्तकें तथा उन्हें पढ़ने-पढ़ाने वाले कत्रि हैं।

13. पुस्तकस्थ ऋषि, ऐसी पुस्तक को पढ़ाने तथा पढ़ने वाले सत्रि हैं।

14. वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं — ऐसा दण्डीजी विधान कर रहे हैं। कालान्तर में यही ऋषि दयानन्द की मान्यता एवं आर्यसमाज का सिद्धान्त बनी।

15. उदाहरणार्थ पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की निरंकुशता' में महाकवि कालिदास द्वारा किए गए अपाणिनीय प्रयोगों का वर्णन किया है।

16. मिताक्षरा याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर (1076-1126 ई.) कृत टीका है। मिताक्षरा को हिन्दू उत्तराधिकार आदि कानूनों के सम्बन्ध में प्रमाण माना जाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय के इस तृतीय श्लोक का अर्थ है — पुराण, न्यायदर्शन, मीमांसा दर्शन, धर्मशास्त्र (स्मृति), छह वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण छन्द और ज्योतिष) तथा चार वेद — ये चौदह विद्याएँ मानी गई हैं।

17. काठ का बना हाथी अर्थात् बनावटी, मिथ्या

18. याज्ञवल्क्य स्मृति के व्यवहाराध्याय पर मिताक्षरा टीका में यह श्लोक है।

19. दण्डीजी ने स्वयं को बहुत विद्वान् मानने वाले बुद्धिहीन व्यक्तियों के लिए यह शब्द (डांभिद) प्रयोग किया गया है।

20. याज्ञवल्क्य स्मृति की मित्र मिश्र लिखित टीका

21. नव्य न्याय में प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली

22. जो मूल शब्द श्रोता को अर्थ का बोध करवाता है उसे स्फोट कहते हैं। इसका स्वरूप कान से सुने जाने वाली ध्वनि से भिन्न एवं सूक्ष्म होता है।

23. आचार्य मम्मट कृत काव्यप्रकाश में विवेचित मत

24. जयपुर नरेश सवाई रामसिंह ने 1864 ई. में लक्ष्मणगिरि गोसाईं द्वारा चौसठ प्रश्न निकलवाकर श्री वैष्णवों को भेजे थे। इनके उत्तर में रंगाचार्य ने 'दुर्जनकरिपञ्चानन' लिखा। तब राजा ने पण्डित हरिश्चन्द्र को दिल्ली से बुलवाया। उसने खण्डनात्मक पत्र 'सज्जन मनोऽनुरंजन' लिखा जिस पर सम्मति लेने के लिए महाराजा रामसिंह कलकत्ता जाते हुए हरिश्चन्द्र को काशी छोड़ गए। जब महाराजा वापस काशी लौटे तो वैष्णवों ने राजा से कहा कि उनकी तथा काशी नरेश की विद्यामानता में शास्त्रार्थ होना चाहिए। महाराजा रामसिंह बोले कि हम विवाद करने नहीं अपितु अपने मत का विवेचन करने आए हैं। इस प्रकार कुछ निर्णय न हो पाया। यहाँ दण्डीजी इस प्रसंग की चर्चा कर रहे हैं।

25. दक्षिण देशीय शूद्र कुलोत्पन्न शठकोपाचार्य छाज बेचा करता था। उसने चक्राँकित मत चलाया था। शठकोपाचार्य ने द्रविड़वेद तमिल में रचा था।

26. ऐसा ही ऋषि दयानन्द का सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में लेख है। जैसे जिन सम्प्रदायी परस्पर विरोधी लोगों ने भागवतादि नवीन कपोल कल्पित ग्रन्थ बनाये हैं उनमें व्यास जी के गुणों का लेश भी नहीं था।

27. द्रष्टव्य: शिवपूजनसिंह कुशवाह, श्रीमद्भागवत महापुराण में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ

28. रामनिरंजन दण्डी काशी के संन्यासियों में अग्रणी माने जाते थे। वे हथुआ (बिहार) के समीपस्थ किसी ग्राम के निवासी थे। वहाँ से काशी आ गए। फिर 1824-25 ई. में संन्यास ले लिया। हथुआ नरेश तथा काशी नरेश ईश्वरीनारायण सिंह उनके भक्त थे। उनका लगभग 85 वर्ष की आयु में 1870 ई. में निधन हुआ था।

29. पद्मपुराण (उत्तर खण्ड, अध्याय 225) में ऊर्ध्वपुण्ड्र का महत्त्व वर्णित है। प्रसिद्ध था कि ---

ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु शंखचक्रविवर्जतः।
तं गर्दभे समारोप्य बहिः कुर्यात्स्वपत्तनात्॥

अर्थात् - जो ऊर्ध्वपुण्ड्र, शंख चक्रादि चिह्नों से विहीन है, उसे गधे पर चढ़ाकर नगर से बाहर कर देना चाहिए।

परिशिष्ट 5 : सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

स्वामी विरजानन्द विषयक ग्रन्थ

अखिलानन्द कविरत्न : **विरजानन्दचरितम् काव्यम्** (संस्कृत काव्य)

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, **विरजानन्द-चरित** (मूल बंगला पुस्तक के अनुवादक घासीराम) आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 1954 (प्रथम संस्करण, 1919)

जगदम्बाप्रसाद मुन्शी, **स्वामी विरजानन्द सरस्वती दण्डी का जीवन-चरित्र** (पण्डित लेखराम के उर्दू लेख का अनुवाद), वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद, 1913

निरंजनदेव, **गुरु विरजानन्द**, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, जालन्धर नगर, दूसरा संस्करण, 1983 (कुल 16 पृष्ठ)

प्रभुदयाल मीतल, **मथुरा में दंडी विरजानन्दजी का विद्यालय और स्वामी दयानंदजी की शिक्षा-दीक्षा**, आर्यसमाज मथुरा, दिसम्बर 1959

भीमसेन शास्त्री, **विरजानन्द-प्रकाश**, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, चतुर्थ संस्करण, 1992 (प्रथम संस्करण, 1959)

मुकुन्ददेव, **दण्डी जी की जीवनी** (सम्पादक, डॉ. रामप्रकाश), सत्यार्थप्रकाशन, कुरुक्षेत्र, 2003

मेधाव्रताचार्य, **ब्रह्मर्षि विरजानन्दचरितम्** (संस्कृत), गुरुकुल झज्जर (हरियाणा), 1956

रघुनाथप्रसाद पाठक, **आदर्श गुरु-शिष्य**, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, दिसम्बर 1959 (कुल 18 पृष्ठ)

विद्याभूषण विभु , **विरजानन्द विजय**, नारायणस्वामी प्रधान दयानन्द जन्मशताब्दी सभा, मथुरा, 1981 वि.

विज्ञानानन्द (स्वामी), **गुरु विरजानन्द जीवन**, गुरु विरजानन्द स्मारक न्यास, करतारपुर, सम्वत् 2027 वि. (कुल 13 पृष्ठ)

वेदानन्द सरस्वती (स्वामी), **स्वामी विरजानन्द सरस्वती का जीवन-चरित**, मधुर प्रकाशन, दिल्ली, 1988 (प्रथम संस्करण, 1954), **श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती जीवन-गाथा** (सम्पादक उदयवीर शास्त्री), गाजियाबाद, 1973

सन्तलाल दाधिमथ, **श्रीमद्विरजानन्द-दर्शन**, सरस्वती सदन, लुधियाना/नारनौल, सम्वत् 1982 वि.

त्रिलोकचन्द आर्य, **गुरु विरजानन्द**, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1970

गुरुधाम परिचय, गुरु विरजानन्द स्मारक समिति, विरजानन्द मार्ग, मथुरा

विरजानन्द दण्डी स्वामी, **शब्दबोध** (हस्तलेख)

विरजानन्द दण्डी स्वामी (?), **पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश** (हस्तलिपि)

स्वामी दयानन्द विषयक ग्रन्थ

आदित्यपालसिंह आर्य तथा वेदव्रत आलोक, **महर्षि दयानन्द सरस्वती-अपना जन्मचरित्र**, अदिति प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987

किशोरीलाल, **महर्षि दयानन्द सरस्वती जीवन-चरित्र**, गोविन्द ब्रदर्स, अलीगढ़, दिसम्बर 1937

गोपालराव हरि, **दयानन्द दिग्विजयार्क**, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1974 (पहले दो खण्ड 1881 ई. तथा तीसरा खण्ड 1887 ई. में पहली बार प्रकाशित)

जगन्नाथ भारतीय, **महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज का जीवन-चरित्र**, रसिक काशी यन्त्रालय, देहली, 1888

दयानन्द सरस्वती (महर्षि), **उपदेश-मंजरी (पूना प्रवचन)**, मधुर प्रकाशन, दिल्ली, मार्च 1994

सत्यार्थप्रकाश, परोपकारिणी सभा, अजमेर, 2005

भागवत-खण्डनम् (सम्पादक युधिष्ठिर मीमांसक), रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, चतुर्थ संस्करण, 1995 ई.

अष्टाध्यायीभाष्यम्, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, प्रथम भाग, सम्वत् 2018 वि., द्वितीय भाग, 2034 वि.

दीवानचन्द, **महर्षि दर्शन**, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, 1992

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, **महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित**, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 2001 (प्रथम संस्करण, 1933)

दयानन्द चरित (बंगला में 1894 ई. में प्रकाशित दयानन्द चरित का घासीराम द्वारा भाषानुवाद), गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1932 (प्रथम संस्करण, 1912)

नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, **महात्मा दयानन्द** (बंगला), कलकत्ता, 1886

पिण्डीदास (ज्ञानी), **1857 के स्वातन्त्र्य संग्राम में स्वराज्य प्रवर्तक महर्षि दयानन्द का क्रियात्मक योगदान**, आर्य प्रकाशन, अमृतसर, 1971

भवानीलाल भारतीय, **नव जागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती**, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 1983

ऋषि दयानन्द के चार लघु जीवन चरित (सम्पादित), विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1999

महर्षि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी, स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान, लखीमपुर खीरी, 1986

भगवद्दत्त (सम्पादक), **ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वरचित जन्म-चरित्र**, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, मई 1959

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग 1, नवम्बर 1980; भाग 2, सितम्बर 1981, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत)

महेशप्रसाद मौलवी, **महर्षि दयानन्द कब कहाँ ?** अमरवेद ज्योति प्रकाशन, वेदमन्दिर, विवेकानन्द नगर, गाजियाबाद (तिथि नहीं)

जीवन-दर्शक महर्षि, इलाहाबाद, सम्वत् 2001 वि.

मांगीलाल कविकिंकर, **ऋषि-चरित्र**, मुलतानमल मुद्रणालय, छावनी नीमच, द्वितीयावृत्ति 1898, (प्रथम संस्करण की तिथि ज्ञात नहीं)

राधाकिशन मेहता, **महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनकी तालीम** (उर्दू), आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब, सिन्ध, बलोचिस्तान, लाहौर, 1983 वि.

रामविलास शारदा, **आर्यधर्मेन्द्र जीवन**, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, प्रथम संस्करण 1904

लक्ष्मण आर्योपदेशक, **मुकम्मल जीवन चरित्र महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती** (उर्दू), आर्य पुस्तकालय, लाहौर (तिथि नहीं)

लाजपतराय, **महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम** (उर्दू), 1898, गोपालदास देवगण शर्मा द्वारा हिन्दी में अनुदित **युग-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द**, आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली, 1998

लेखराम आर्य मुसाफ़िर, **महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज का जीवन चरित्र** (उर्दू), आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर, 1897

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र (हिन्दी), रघुनन्दनसिंह निर्मल (अनुवादक), डॉ. भवानीलाल भारतीय (सम्पादक), आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2004

वासुदेव शर्मा, **अठारह सौ सत्तावन और स्वामी दयानन्द**, भारतीय लोक समिति, नई दिल्ली, सम्वत् 2026 वि.

सत्यबन्धु दास, **श्री श्री दयानन्द चरित** (बांग्ला देवनागरी लिपि में), देवनागर मासिक पत्र कलकत्ता, 1907 (अनुवादक प्रियदर्शन, सम्पादक भवानीलाल भारतीय, आर्यसमाज कलकत्ता, 1986)

सत्यानन्द (स्वामी), **श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश**, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली (प्रथम संस्करण 1918)

शेरसिंह वर्मा, **कर्णवास में महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण** , दिल्ली, सम्वत् 2032 (इसका भवालीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित संस्करण, **महर्षि दयानन्द का कर्णवास प्रवास**, महर्षि दयानन्द स्मारक कर्णवास, बुलन्दशहर, उत्तरप्रदेश, 2001 ई.)

धर्मदिवाकरोदय (आदित्य ब्रह्मचारी श्री 108 स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज का जीवन-चरित्र), आर्य भास्कर यन्त्रालय, आगरा (तिथि नहीं)

स्फुट संदर्भ ग्रन्थ

इन्द्र विद्यावाचस्पति, **आर्यसमाज का इतिहास**, प्रथम भाग, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, 1957

नन्दलाल चतुर्वेदी, **कविरत्न नवनीत**, अभिलाषा प्रकाशन, मथुरा,

पद्मसिंह शर्मा, **पद्म-पराग**, प्रथम भाग, वणिक् प्रेस, कलकत्ता,1986 वि.

पृथ्वीसिंह मेहता, **हमारा राजस्थान**, प्रयाग, 1950

बलदेव उपाध्याय, **काशी की पाण्डित्य परम्परा**, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1983

भगवद्दत्त (सम्पादक), **वैदिक वाङ्मय का इतिहास, दूसरा भाग - वेदों के भाष्यकार**, प्रणव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976

महावीरप्रसाद द्विवेदी, **कालिदास की निरंकुशता**, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ

मनसाराम, **निरंकुशता-निदर्शन अर्थात् सरस्वती सम्पादक श्री पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित कालिदास की निरंकुशता का प्रतिवाद**, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, सम्वत् 1995 वि. (प्रथम संस्करण 1968 वि.)

मुकेश रानी, **विरजानन्दकृत 'शब्दबोध' का सम्पदन एवं अनुशीलन**, एम.फिल्. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघुशोध-प्रबन्ध, कुरुक्षेत्र विश्विद्यालय, कुरुक्षेत्र, जून 2005

यशपाल, **सिंहावलोकन**, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण मार्च 1964

युधिष्ठिर मीमांसक, **संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, तीन भाग**, बहालगढ़, 1984

रामप्रकाश (डॉक्टर), **पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी**, सत्यार्थप्रकाशन, कुरुक्षेत्र, पंचम संस्करण, 2005

रामानुजदास, **श्री रंगदेशिक जीवन-चरित्र**, श्री वैष्णव नवयुवक दल, श्रीधाम वृन्दावन, सम्वत् 1996 वि.

रोमा रोलां, **रामकृष्ण की जीवनी** (अनुवादक धनराज विद्यालंकार) अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1998

लोलिम्बराज, **वैद्यजीवनम्** , इन्दुप्रकाश यन्त्रालय, मुम्बई, सम्वत् 1959 वि.

वासुदेवशरण अग्रवाल, **पाणिनिकालीन भारतवर्ष**, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सम्वत् 2012 वि.

वीरेन्द्र सिन्धु, **युगद्रष्टा भगतसिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे**, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

सत्यकेतु विद्यालंकार, **आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग**, आर्य स्वाध्याय केंद्र, नई दिल्ली, 1982

सुन्दरलाल, **भारत में अंगरेज़ी राज**, तीसरी जिल्द, ओंकार प्रेस, इलाहाबाद, 1938

शिवपूजनसिंह कुशवाह, **श्रीमद्भागवत पुराण में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ**, वैदिक शोध संस्थान, कानपुर, सम्वत् 2031 वि.

क्षितीश वेदालंकार, **चयनिका**, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1991

अखिलानन्द शर्मा, **दयानन्द दिग्विजयम् (संस्कृत)**, आर्य धर्म प्रकाशन, शामली, 2027वि.

अष्टाध्यायी, वैदिक यन्त्रालय, प्रयाग, सम्वत् 1947 वि. (द्वितीयावृत्ति)

अथ श्रीमद्वाल्मीकीये रामायणे भाषाटीकासमेते सुन्दरकाण्डम् , खेमराज श्री कृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, 1893

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, द्वितीयः खण्ड :, गीता प्रेस, गोरखपुर

याज्ञवल्क्यस्मृति : श्री मित्रमिश्रकृत 'वीरमित्रोदय' टीकया श्री विज्ञानेश्वर कृत 'मिताक्षरा' टीकया सहिता, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ ऑफिस, बनारस सिटी, 1986

वेदव्यासप्रणीत महाभारत, द्वितीय खण्ड (वन पर्व और विराट पर्व), गीता प्रेस, गोरखपुर

आर्य मर्यादा, 12 अक्तूबर 1969

टंकारा पत्रिका, मार्च 1960

परोपकारी (मासिक, अजमेर), मार्च 1995

माधुरी, खण्ड 2, मई 1928

यज्ञयोग ज्योति (मासिक, रोहतक), फरवरी, मार्च-अप्रैल 1966

वेदवाणी, मार्च 1960, 1995, फाल्गुन 2016 वि., 2049 वि., आषाढ़, श्रावण 2052 वि.

स्मारिका, गुरु विरजानन्द वैदिक संस्कृत महाविद्यालय, करतारपुर (जालन्धर), अक्तूबर 1980, सितम्बर 1981

Books in English

Arjun Singh Bawa, *Dayanand Saraswati Founder of Arya Samaj*, Ess Ess Publications, New Delhi, 1901

A.M. Ghatage (Ed.), *An Encyclopaedic Dictionary of Sanskrit on Historical Principles*, Vol.I., Deccan College, Poona, 1976-78

B. Bissoondoyal, *Two Swamis*, Port Louis, Mauritius, 1988

Bholanauth Chunder, *The Travels of a Hindoo*, Vol. II, London, 1869

Chhajju Singh Bawa, *Life and Teachings of Swami Dayanand Saraswati*, Jangyan Prakashan, New Delhi, 1971 (first published in 1903)

Dina Nath Ganguli, *Dayanand Saraswati*, Hayer Press, Calcutta, 1899 (first published in Illustrated Indian News, 1899)

F.S. Growse, *Mathura : A District Memoir*, Asian Educational Services, New Delhi, 1979 (first published in 1882)

G.S.Ghurye, *Indian Sadhus*, The Popular Book Depot, Bombay, 1953

H.P.Blavatsky, *From the Caves and Jungles of Hindostan*, The Theosophical Publishing House, Adyar Madras, 1983

Harbilas Sarda, *Life of Dayanand Saraswati*, Vedic Pustakalaya Ajmer, 1968

Hari Ram Gupta, *A History of the Sikhs, Vol.V*, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1991

J.M. Sharma, *Swami Dayanand*, U.B.S. Publishers, New Delhi, 1998

J.T.F. Jordens, *Dayananda Sarasvati, His Life and Ideas*, Oxford University. Press, Delhi, 1979

John Robson, *Hinduism and its relation to Christianity*, Oliphant

Anderson and Ferrier, London, 1893
K.V. Abhyankar and J.M. Shah, *A Dictionary of Sanskrit Grammar*, Oriental Institute, Baroda, 1977
K.W. Jones, *Arya Dharm*, Manohar Publications, New Delhi, 1976
L.H. Griffin (Sir), *The Rajas of the Punjab*, Manu Publications, New Delhi
Monier Williams (Sir), *Sanskrit - English Dictionary*, Southern Publications, Madras, 1987
Romain Rolland, *The Life of Ramakrishna*, Advaita Ashrama, Mayavati, Almora, 1954
R. Thwaytes, *Dayanand Saraswati & the Sepoy Revolt of 1857* (unpublished B.A. Hons. Thesis), Australlian National University, Canberra, 1973
S.K. Belvalkar, *Systems of Sanskrit Grammar*, Poona, 1915
Theodore Goldstucker, *The Inspired Writings on Indology* (Literary Remains), Vol. II. Cosmo Publications, New Delhi, 1977 (first published under the title *'Literary Remains of Theodore Goldstucker in 1879)*
District Gazetteer of the Provinces of Agra and Oudh, Vol .V, Bullandshar, a Gazetteer by H.R. Nevill, Allahabad, 1903
Vol.VII, Muttra, a Gazetteer by D.L.Drake-Brockman, Allahabad, 1911
Vol. XII, Etah, a Gazetteer by E. R. Neave, Allahabad, 1911
Gazetteer of the Gurdaspur District, 1883-84, Printed at the Arya Press, Lahore by Ram Das, 1884
Gazetteer of the Jallandhar District, 1883-84, Printed at the Arya Press, Lahore by Ram Das, 1884
Imperial Gazetteer of India, Vol. V, VIII, XII, XVIII, Clarendon Press, Oxford, 1908
Panjab Univ. Res. Bull. (Arts), Vol. 3, October 1972
The Leader, Allahabad, 3 September, 1913
Vedic Magazine, January 1923

लेखक-परिचय

डॉ. रामप्रकाश

• अक्तूबर 1939 में तंगौर ग्राम (कुरुक्षेत्र) में श्री प्रभुदयाल जी के घर जन्म; पिता जी अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध आर्यसमाजी, माता जी (शान्ति देवी) गोरक्षा आन्दोलन में तिहाड़ जेल में रहीं, अग्रज श्री बीरुराम आर्य, धर्मपत्नी श्रीमती विजय, सुपुत्र जितेन्द्र रामप्रकाश व शैलेन्द्र

• डी.ए.वी. कॉलेज अम्बाला नगर से बी.एस-सी., पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ से रसायन विज्ञान में एम.एस-सी. (ऑनर्ज़), पी-एच.डी., जी.जे. विश्वविद्यालय हिसार से डी.एस-सी. की मानद उपाधि, चार्ल्स विश्वविद्यालय एवं हैरोवस्की (नोबल पुरस्कार विजेता) इंस्टीच्यूट ऑफ पोलेरोग्रॉफी, प्राग, चैकोस्लोवाकिया तथा यू.एस.ए. में विशेष अध्ययन/अनुसंधान

• पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में अक्तूबर 2002 तक रसायन विज्ञान के प्रोफेसर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र में प्रो-वाइसचांसलर, (1981-84), चैकोस्लोवाकिया में यूनेस्को फैलो (1971-72), अमरीका में फुलब्राइट स्कॉलर (1989)

• राज्यन्त्री, हरियाणा सरकार (1991-93); सदस्य : हरियाणा विधान सभा (1991-96), पंजाब विश्वविद्यालय सीनेट (1972-2000), सिण्डीकेट (1977-80, 85-92, 2000); अध्यक्ष: पंजाब विश्वविद्यालय अध्यापक संघ (1974-76)

• वेद विमर्श, यज्ञ विमर्श, सत्यार्थप्रकाश-विमर्श , पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (जीवन एवं कार्य), गुरु विरजानन्द दण्डी (जीवन एवं दर्शन), तथा The Vedas (वेद-विमर्श का अंग्रेज़ी अनुवाद) का लेखन, दण्डी जी की जीवनी, Works of Pandit Gurudatta Vidyarthi तथा Pandit Gurudatta Vidyarthi (Life and Work) का सम्पादन; लगभग 85 मौलिक वैज्ञानिक शोध-पत्र प्रकाशित

• पंजाब विश्वविद्यालय में दयानन्द चेयर की स्थापना, उसी विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के भवन का नाम पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी भवन रखवाना तथा मॉरिशस में दयानन्द शोध पीठ की स्थापना आदि विशेष उपलब्धियाँ

• चैकोस्लोवाकिया (1971-72,90), आस्ट्रिया (1971), हंगरी (1971), इंग्लैण्ड (1972, 89), जर्मनी (1972, 90), स्विट्जरलैण्ड (1972, 99), फ्रांस, बैल्जियम, नीदरलैण्ड, रोमानिया तथा यूगोस्लाविया (1972), कनाडा (1989), अमरीका (1989), मॉरिशस (1998, 2003, 2006), नैरोबी (2004) में अध्ययनार्थ/अनुसंधानार्थ/प्रचारार्थ प्रवास/भ्रमण

• विद्यामार्तण्ड स्वामी धर्मानन्द सरस्वती आर्यभिक्षु पुरस्कार (1999-2000) तथा घूड़मल प्रहलादकुमार आर्य साहित्य पुरस्कार (2003), हरियाणा रत्न (2004) से सम्मानित; मॉरिशस में आर्यसमाज स्थापना शताब्दी पर दिसम्बर 2003 में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महा सम्मलेन के अध्यक्ष

मथुरा में एक सन्यासी सत्पुरुष मुझे मिले। उनका नाम विरजानन्द स्वामी है। वे पहले अलवर में थे। उस समय उनकी आयु 81 वर्ष की थी। उनकी वेद से लेकर आर्ष शास्त्रों में अत्यधिक रुचि थी। वे दोनों चक्षुहीन थे। उनके उदर में सदा शूल की पीड़ा रहती थी। उनकी आधुनिक कौमुदि, शेखर आदि ग्रन्थों में बड़ी अश्रद्धा थी। भागवत आदि पुराणों का तो बहुत ही तिरस्कार करते थे। समस्त आर्षग्रन्थों पर उनकी अत्यन्त भक्ति थी। आगे जब उनका परिचय हुआ, तो 'तीन वर्ष में व्याकरण आता है' उनके ऐसा कहने पर मैंने उनसे पढ़ने का निश्चय किया।

-महर्षि दयानन्द सरस्वती

स्वामी विरजानन्द सरस्वती... अन्ध विश्वासों के प्रति घृणा और दुर्बलता की निन्दा में उनसे (ऋषि दयानन्द से) कहीं अधिक कठोर थे।

- रोमा रोलां